Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राचीन भारतीय राजतन्त्र

7147

शैलेन्द्र नाथ कपूर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राचीन भारतीय राजतन्त्र

State Museum Library Lucknow 7147

प्रो० बी एन० पुरी संग्रह लखनऊ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पितृतुल्य प्रोफेसर बैजनाथ पुरी
को श्रद्धा एवं सम्मान सहित
- शैलेन्द्र नाथ कपूर
17. 3. 1995

प्राचीन भारतीय राजतन्त्र

State Museum Library Lucknow
7147
COMPLIMENTARY COPY

शैलेन्द्र नाथ कपूर
रीडर
प्राचीन भारतीय इतिहास एवं
पुरातत्व विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

बी॰ एन॰ पुरी
संग्रह
लखनऊ

विश्व प्रकाशन
(वाइली ईस्टर्न लिमिटेड का प्रभाग)
नई दिल्ली • बंगलूर • बम्बई • कलकत्ता • हैदराबाद • लखनऊ
मद्रास • पुणे • लन्दन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कापीराइट © 1995 विश्व प्रकाशन

विश्व प्रकाशन
(वाइली ईस्टर्न लिमिटेड का प्रभाग)

नई दिल्ली : 4835/24 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–110002
बंगलूर : 27, बुल टैम्पल रोड, बसवनगुडी, बंगलूर–560004
बम्बई : 128/A, नूरानी बिल्डिंग, ब्लाक नं. 3, पहली मंजिल, जे.एल.बी. रोड, महिम, बम्बई-400016
कलकत्ता : 40/8 बालीगंज, सरक्यूलर रोड, कलकत्ता–700019
गुवाहाटी : पन बाजार, रानी बारी, गुवाहाटी–781001
हैदराबाद : 1-2-412/9, गगन महल, निकट ए.वी. कालेज, दामुलगुडा, हैदराबाद–500029
लखनऊ : 18, मदन मोहन मालवीय मार्ग, लखनऊ–226001
मद्रास : नं॰ 6, पहला मुख्य मार्ग, गांधी नगर, मद्रास–600020
पुणे : इन्दिरा कोऑपरेटिव हाउसिंग सोसाइटी लि., (इन्दिरा हाइट), फ्लैट नं. 2, बिल्डिंग नं. 7, इरण्डवाने पौड फाटा, कार्वे रोड, पुणे–411038
लन्दन : विश्व प्रकाशन लिमिटेड, स्पैटेक हाउस, लाघम रोड, साउथ गौडस्टोन, सरे, RH9 8HB, लन्दन, UK

इस पुस्तक से कोई भी सामग्री किसी भी
रूप में प्रकाशक की अनुमति के बिना
प्रकाशित नहीं की जा सकती।

इस पुस्तक के बिक्री अधिकार भारत
के बाहर केवल प्रकाशकाधीन हैं।

ISBN : 81-7328-050-9

वी. एस. जौहरी द्वारा विश्व प्रकाशन (वाइली ईस्टर्न लिमिटेड का प्रभाग), 4835/24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–110002 के लिए प्रकाशित तथा स्पैक्ट्रम मीडिया, दरियागंज, दिल्ली-110 002 द्वारा टाइपसैटिंग एवं विकास आफसैट, दिल्ली-110 032 द्वारा भारत में मुद्रित।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

गुरुवर प्रोफेसर किरण कुमार थपल्याल
को
सादर एवं सविनय समर्पित

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रस्तावना

राजतन्त्र एवं प्रजातन्त्र दो ऐसी प्रणालियां हैं जिनके द्वारा किसी देश का शासन सुचारू रूप से चलाना होता है। एक में शासक का आधिपत्य है तो दूसरे में प्रजा की इच्छा सर्वोपरि है। प्राचीन भारत में दोनों ही प्रणालियों का उपयोग किया गया। राजतन्त्र में भी प्रजा की भावनाओं का आदर होता था। पुरोहित, राज्यमन्त्री, एवं मन्त्रिपरिषद् द्वारा यह व्यवस्था थी कि शासक अपने अधिकारों का दुरुपयोग न कर सकें। जिस काल में भी शासक ने प्रजा के हितों की अवहेलना की, उसे अथवा उसके वंश को इस राजनैतिक कुत्सित भावनाओं का परिणाम भुगतना पड़ा। इस प्रकार से प्राचीन भारतीय प्रशासनीय इतिहास इन कतिपय भावनाओं के अन्तर्गत राजनैतिक उतार चढ़ाव एवं परिवर्तन तक सीमित रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक राज्य शास्त्र के सभी अवयवों को दृष्टि में रखकर लिखी गयी है। साहित्यिक एवं पुरातात्विक साधनों का आश्रय लेते हुए लेखक ने राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न धारणाओं का उल्लेख किया है। वैदिक काल में 'War begot the king' अथवा युद्ध से शासक की उत्पत्ति हुई। सभा एवं समिति द्वारा शासक की शक्तियों एवं उनके प्रयोग को सीमित करने की योजना थी। प्रशासन साधारण था, पर राज्य के विस्तृत स्वरूप होने पर प्रशासन के क्षेत्र में भी वृद्धि हुई। राज्य की सप्त प्रकृतियां – स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल (सेना) तथा मित्र ने अपना स्थान बनाया। शासन चलाने के लिए रत्नियों का उल्लेख भी मिलता है।

लेखक ने प्रशासन के विभिन्न वर्गों का प्रमाण सहित विभिन्न अध्यायों में विवरण दिया है–जैसे मन्त्रिपरिषद्, कर व्यवस्था, न्याय व्यवस्था। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से मण्डल सिद्धान्त का कामन्दक नीतिसार में विस्तृत रूप से विवरण है जो आज भी वैदेशिक सम्बन्धों के लिए आचार्य संहिता का काम कर सकता है।

प्राचीन भारत में गण एवं संघ राज्यों का अपना अलग स्थान है। उत्तर-पश्चिम भारत तथा उत्तर-पूर्वी भारत में कई शताब्दियों तक इनका अपना अस्तित्व बना रहा। राजनैतिक शक्तियां साम्राज्यवाद एवं वैदेशिक आक्रमणों के सामने यहाँ टिक न सकीं। पर इनके गणतान्त्रिक मूल्यों का अपना महत्व है और इनका इतिहास प्राचीन भारत में जन सत्ता का द्योतक है।

अपने अन्तिम अध्याय में डा० कपूर ने कतिपय प्रमुख राजवंशों की शासन व्यवस्था का विस्तृत रूप से उल्लेख किया है। यह मौर्य काल से चोल काल तक के प्रशासनिक इतिहास का ब्यौरा देता है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उनके प्राचीन हिन्दू राजतन्त्र के अध्ययन में बड़ी सहायक सिद्ध होगी। डा० कपूर इसके लिए बधाई के पात्र हैं और मेरा उनके तथा उनकी पुस्तक के लिए आशीर्वाद है।

बैजनाथ पुरी

'अनिकेत'
बी-58, सेक्टर-ए,
महानगर, लखनऊ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भूमिका

राजशास्त्र के पूर्वज आचार्यों के मत वर्तमान एवं भविष्य के लिए प्रेरणाप्रद हैं। वे राजनीति, धर्म तथा सामान्य जन-जीवन सम्बन्धी विचारों के अक्षय कोष हैं। प्राचीन भारत में धर्म एवं राजनीति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था। कर्त्तव्यों का पालन न करना अधार्मिक एवं दण्डनीय माना जाता था। वैदिक ऋषियों ने अपनी साधना एवं तप से श्रेष्ठ ज्ञान अर्जित किया था। वे वैदिक ऋचाओं के द्रष्टा थे। श्रुति परम्परा से यह ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होता रहता था। इन ऋचाओं में राजतन्त्र सम्बन्धी विवरण बिखरे हुए मिलते हैं। उनका संकलन, अध्ययन एवं विश्लेषण राजशास्त्र की आधारशिला है। प्राचीन भारतीय 'सभा', 'समिति', विदथ आदि संस्थाओं एवं विधि सम्मत राजपद हेतु 'राज्याभिषेक' सम्बन्धी कर्मकाण्ड आदि पर इनसे महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

'रामायण' तथा 'महाभारत' में राजतन्त्र सम्बन्धी अतुल सम्पदा समाहित है। पालि बौद्ध त्रिपिटक साहित्य, प्राकृत जैन साहित्य, संस्कृत में लिखे गए 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र', 'मनुस्मृति', 'याज्ञवल्क्य स्मृति', 'नारद स्मृति', 'कामन्दकीय नीतिसार', 'शुक्रनीतिसार', चरित ग्रन्थ तथा पुरातात्त्विक साक्ष्य आदि राजशास्त्रीय ज्ञान के माध्यम हैं। राज्य की उत्पत्ति, राजा के कर्त्तव्य एवं अधिकार, राजा के सुयोग्य परामर्शदाता मन्त्रियों तथा राज्य के विधिवत् संचालन में मन्त्रिपरिषद् की उपयोगिता कोष के संवर्धन द्वारा प्रजापालन एवं राष्ट्र की रक्षा में कर व्यवस्था का स्वरूप, अपराधियों को दण्डित कर निरपराधियों को उचित न्याय दिलाना आदि श्रेष्ठ राजतन्त्र की प्रमुख विशेषताएं हैं। राज्य के सात अंगों का परस्पर सम्बन्ध तथा राज्यों के परस्पर व्यवहार आदि के सम्बन्ध में प्राचीन विचारकों के मत पथप्रर्दशक का कार्य करते हैं।

प्रत्येक राजतन्त्र में सामान्यतया दो तन्त्र होते हैं – नृपतन्त्र तथा गणतन्त्र। कई गणों का संगठित राज्य संघराज्य होता है। बुद्धकालीन गणतन्त्रात्मक व्यवस्था में लिच्छवियों का सुदृढ़ योगदान था। तत्कालीन कई गणराज्यों ने मिलकर वज्जिसंघ की स्थापना की थी। बौद्ध साहित्य से उनकी कार्यपद्धति की विस्तृत जानकारी मिलती है। पारस्परिक कटुता के कारण लिच्छवियों का गणतन्त्र पराजित हो गया था। शत्रुओं के गुप्तचर किसी भी गणतन्त्र में फूट डालकर उन्हें विघटित कर देते थे। अतीत की ये घटनाएँ वर्तमान में हमें संगठित रहने का सन्देश देती प्रतीत होती हैं। महाभारत में अनेक गण एवं संघ राज्यों के उल्लेख मिलते हैं। संघमुख्य के रूप में श्रीकृष्ण-नारद संवाद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि संघमुख्य को अपने गणमुख्यों का समुचित आदर करते हुए

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उनमें से किसी की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए। गणों को विघटन से बचाने में संघमुख्य की भूमिका का विवरण वर्तमान में विशिष्ट उपयोगी है।

'कौटिल्य' एवं 'मनु' के राज्यशास्त्र सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रमुखता दी गयी है। इस सन्दर्भ में कौटिल्य के अर्थशास्त्र के लिए 'वाचस्पति गैरोला' द्वारा किए गए हिन्दी अनुवाद तथा 'मनुस्मृति' के लिए पं॰ श्री हरगोविन्द शास्त्री द्वारा किए गए हिन्दी अनुवाद का आश्रय लिया गया है। कतिपय प्रमुख राजवंशों की शासन पद्धतियों के अन्तर्गत मौर्य, सातवाहन, कुषाण, गुप्त, हर्ष, राष्ट्रकूट तथा चोलों पर प्रकाश डाला गया है। इनके ऐतिहासिक सर्वेक्षण करने के मूल में यह भाव निहित है कि स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्ययनरत तथा प्रशासनिक परीक्षाओं में सम्मिलित होने वाले सभी विद्यार्थी लाभान्वित हो सकें। अपने देश के प्राचीन इतिहास में रुचि रखने वाले नागरिकों को यदि इसके अध्ययन का लाभ मिल सका तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा। ज्ञान अथाह सागर की भाँति है। कुछ रत्नों को पाकर ही सन्तोष करना पड़ता है। प्रामाणिक, साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक स्रोतों पर आधारित 'प्राचीन भारतीय राजतन्त्र' का प्रस्तुतीकरण लेखक का विनम्र प्रयास मात्र है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखन की प्रेरणा कई वर्ष पूर्व श्रद्धेय गुरुवर प्रोफेसर किरण कुमार थपल्याल से मिली थी। किन्हीं व्यवधानों के कारण यह कार्य स्थगित होता रहा। पुस्तक का वर्तमान स्वरूप उनके आवश्यक सुझावों द्वारा संशोधित एवं परिवर्द्धित है। वस्तुतः उनका आशीर्वाद मेरी सतत् प्रेरिका शक्ति है। लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति प्रोफेसर महेन्द्रसिंह सोढा ने 'वाइली ईस्टर्न लिमिटेड' को प्रकाशन का आधार बनाकर अनेक विषयों पर राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रामाणिक एवं विद्यार्थियों के लिए उपयोगी पुस्तकें लिखवाने की योजना प्रस्तुत की। इस भगीरथ कार्य में प्रोफेसर वी॰ डी॰ गुप्त, भूतपूर्व कुलपति गोरखपुर विश्वविद्यालय तथा अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष भौतिक शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ने पूर्ण रुचि ली।

राजतन्त्र के विषय में अधिकारी विद्वान आचार्यवर प्रोफेसर शिवनन्दन मिश्र ने मुझे सदैव स्नेहसिक्त प्रोत्साहन दिया है। उनके प्रति श्रद्धासिक्त नमन मेरा धर्म है। मेरे दो वरिष्ठ गुरुजनों प्रोफेसर रामाश्रय अवस्थी एवं प्रोफेसर अंगने लाल द्वारा ली गई रुचि एवं आशीर्वाद के लिए उनका आभारी हूँ। मेरे विभागीय सहयोगी एवं अग्रज सदृश डॉ॰ श्याम मनोहर मिश्र ने मुझे अनेक मूल ग्रन्थ उपलब्ध कराए तथा लेखन में अपेक्षित सम्मतियां दीं, इसके लिए उनका आभारी हूँ। डॉ॰ अमर सिंह मेरे सहयोगी एवं शिष्य हैं। उन्होंने सन्दर्भ ग्रन्थ सूची तैयार करवाने में मेरी सहायता की है। इसके लिए वे धन्यवाद के अधिकारी हैं। मेरे शिष्य डॉ॰ पीयूष भार्गव ने अपना मूल्यवान समय देकर पूरी पाण्डुलिपि को स्पष्ट शब्दों में लिपिबद्ध करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। पुस्तक के कई अध्यायों में उनका विशिष्ट सहयोग है। वे अपनी कर्मठता एवं समर्पित भाव के कारण मेरे स्नेहपूर्ण आशीर्वाद के पात्र हैं। मेरे शोध छात्र श्री धीरेन्द्र कुमार राय ने भी सहयोग दिया है। इसके लिए वे साधुवाद के अधिकारी हैं।

भूतपूर्व विभागाध्यक्ष प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व, लखनऊ विश्वविद्यालय तथा इतिहास मनीषी प्रोफेसर बैजनाथ पुरी ने प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका लिखकर इसे गरिमा दी है। उन्होंने मुझे सदैव पुत्रवत् स्नेह दिया है। यह उनके आशीर्वाद का प्रतीक है। मैं उनका हृदय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से आभारी हूँ। ममतामयी स्वर्गीया मां के वरद आशीष, पूज्य पिता श्री सुरेन्द्र नाथ कपूर तथा बड़े भाई श्री सुरेश नाथ कपूर के मांगलिक आशीर्वाद का यह प्रतिफल है।

सहधर्मिणी कविता एवं बच्चों–सुरभि, समीक्षा, सुवीर के विविध रूपों में सहयोग से इस पुस्तक का लेखन कार्य पूर्ण हो सका है। मुझे विश्वास है कि इतिहास प्रेमीजनों एवं विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

लेखक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विषय सूची

अध्याय 1. राजशास्त्र जानने के साधन **1–10**

साहित्यिक साधन / 1
(अ) भारतीय
(ब) विदेशी
पुरातात्त्विक साधन / 7
(अ) अभिलेख
(ब) सिक्के
(स) स्मारक

अध्याय 2. राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त **11–16**

1. दैवी सिद्धान्त / 11
2. सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त / 13
3. युद्धमूलक सिद्धान्त / 15
4. विकासवाद का सिद्धान्त / 15

अध्याय 3. कतिपय शासन संस्थाएं **17–28**

1. सभा / 17
2. समिति / 18
3. विदथ / 21
4. पौर–जानपद / 23

अध्याय 4. राज्य की सप्त प्रकृतियां **29–35**

1. स्वामी / 29
2. अमात्य / 30
3. राष्ट्र / 31
4. दुर्ग / 32
5. कोष / 32
6. बल (सेना) / 33
7. मित्र / 34

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अध्याय 5. मन्त्रिपरिषद् 36–41

अध्याय 6. कर-व्यवस्था 42–51

अध्याय 7. न्याय-व्यवस्था 52–57

अध्याय 8. मण्डल सिद्धान्त अथवा अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध 58–62

अध्याय 9. गण एवं संघ राज्यों का प्रशासन 63–72
1. बुद्ध कालीन / 63
2. महाभारत में वर्णित / 68

अध्याय 10. कुछ प्रमुख राजवंशों की शासन पद्धतियां 73–115
1. मौर्य शासन पद्धति / 73
2. सातवाहन शासन पद्धति / 80
3. कुषाण शासन पद्धति / 84
4. गुप्त शासन पद्धति / 86
5. हर्ष की शासन पद्धति / 93
6. राष्ट्रकूट शासन पद्धति / 97
7. चोल शासन पद्धति / 101

परिशिष्ट 116–134
1. राजा का देवत्व / 116
2. उत्तर वैदिक साहित्य में राज्याभिषेक / 119
3. प्राचीन भारत के दो प्रमुख राजनीतिक विचारक / 125
   1. कौटिल्य
   2. मनु

आधारभूत ग्रन्थ 135–138

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

1

राज्यशास्त्र जानने के साधन

अति प्राचीन काल से ही भारत अनेक जनसमुदायों की आवास भूमि रहा है। राज्यों के निर्माण में भी देश की भौगोलिक स्थिति का महत्वपूर्ण योगदान था। उत्तर में हिमालय की पर्वत श्रृंखलाओं से लेकर दक्षिण में हिन्द महासागर तक एवं पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में अरब सागर तक विस्तृत भारतवर्ष को एकता के सूत्र में बाँधने का मुख्य श्रेय इस देश की संस्कृति को रहा है। राजनैतिक दृष्टि से एकता का स्वरूप केवल कतिपय राजवंशों के कुछ सम्राटों के राज्यकाल तक ही सीमित रहा। भारत के राजनैतिक रंगमंच के विषय में जानकारी का साधन विभिन्न ग्रन्थों एवं अनेक राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराए गए लेखों, कुछ स्मारकों पर अंकित शिल्पों एवं चित्रों, समय-समय पर चलाये गये सिक्कों तथा मुद्राओं से उपलब्ध होता है। इन समस्त साधनों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :

1. साहित्यिक साधन,
2. पुरातात्विक साधन।

साहित्यिक साधन मुख्यत: दो प्रकार के हैं:

(अ) भारतीय साहित्य,

(ब) विदेशी साहित्य।

भारत की प्राचीनतम सभ्यता, सिन्धु घाटी की सभ्यता है, जिसके पुरावशेष न केवल वर्तमान पाकिस्तान के सिन्धु प्रान्त के अन्तर्गत मोहन-जोदड़ो एवं पंजाब के माण्टगुमरी जनपद के हड़प्पा वरन् भारत के पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश तथा गुजरात आदि प्रान्तों में अनेक स्थानों पर प्राप्त हुए हैं। इनमें जिस लिपि का प्रयोग हुआ है उसका अर्थ आज भी पूर्ण स्पष्ट न होकर विद्वानों के मध्य विवाद का विषय बना हुआ है। इस कारण सिन्धु सभ्यता के राजनैतिक जीवन के बारे में निश्चित जानकारी नहीं है। पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर कुछ अनुमान लगाया गया है जो कि विवादास्पद है।

भारत का प्राचीनतम साहित्य वैदिक साहित्य है। इसके अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद व सूत्र आते हैं। संहिताएं चार हैं – ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद। सुविधा की दृष्टि से ऋग्वेद को पूर्व वैदिक साहित्य तथा अन्य संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों एवं उपनिषदों को उत्तर वैदिक साहित्य कहा जाता है। वैदिक साहित्य में राजनीति से सम्बन्धित अंश किसी एक स्थान पर नहीं, वे यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। इन्हें एकत्रित करके ही वैदिक कालीन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राज्यशास्त्र सम्बन्धी जानकारी हो पाती है। ऋग्वेद में राज्यशास्त्र सम्बन्धी विवरण अत्यल्प हैं। यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में राज्याभिषेक तथा राज्यारोहण एवं तत्सम्बन्धी व अन्य याज्ञिक कर्मकाण्ड प्रचुर रूप में वर्णित हैं। राजा, राज्यसम्बन्धी, पदाधिकारी, प्रजा पर लगाए जाने वाले करों आदि का विवेचन भी इन ग्रन्थों में किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण एवं शतपथ ब्राह्मण में राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ परिकल्पनाएं एवं व्याख्याएं मिलती हैं। इनमें कतिपय जातियों की सामाजिक स्थिति, उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा अधिकारों के विवरण से भी तत्कालीन राज्यतंत्र पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। अथर्ववेद के अनेक स्थल राज्यशास्त्र सम्बन्धी ज्ञानार्जन के महत्वपूर्ण साधन हैं। इनसे न केवल राजा व उसके उत्तरदायित्व पर ही प्रकाश पड़ता है वरन् राज्यकार्य के समुचित संचालन हेतु अनेक संस्थाओं (सभा, समिति, विदथ) के विषय में भी जानकारी प्राप्त होती है।

उपनिषद् भारतीय चिन्तकों के उन्नतचिन्तन का अक्षय भण्डार हैं। इनमें राज्यशास्त्र के अन्तर्गत समिति तथा जनजातीय जीवन की कुछ विशेषताओं का उल्लेख मात्र मिलता है। अतः उपनिषदों से प्राचीन भारतीय राजशासन पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता।

धर्मसूत्रों में गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन तथा वशिष्ठ धर्मसूत्र उल्लेखनीय है। गद्य में लिखे गए इन धर्मसूत्रों में राजा तथा चारों वर्णों के कर्तव्यों का उल्लेख मिलता है। इन धर्मसूत्रों में करों की व्यवस्था, सम्पत्ति, परिवार, मानव जीवन की रक्षा से सम्बन्धित कुछ विवरण मिलते हैं।

रामायण में लगभग चौबीस हजार श्लोक हैं। इस ग्रन्थ में राजा के अधिकार एवं कर्त्तव्य, उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम, मंत्रियों की स्थिति एवं उनकी योग्यता, दूत, चर-व्यवस्था एवं युद्ध प्रणाली पर प्रकाश डालने वाले अनेक संदर्भ हैं। लेकिन महाभारत की अपेक्षा यह काफी छोटा है और राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से भी इसका महत्व न्यून है। वस्तुतः प्राचीन साहित्य के अन्तर्गत महाभारत एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र से राज्यशास्त्र से सम्बन्धित सर्वाधिक जानकारी मिलती है। इन ग्रन्थों के रचयिताओं महर्षि वेदव्यास तथा कौटिल्य ने अपने पूर्ववर्त्ती अनेक आचार्यों कर्दम, कीर्तिमान, अनंग, अतिवल, योगाचार्य विशालाक्ष, भारद्वाज, पराशर, पिशुन, कात्यायन, दीर्घचारायण आदि के नामों तथा उनके द्वारा प्रतिपादित कतिपय सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थ उपलब्ध न होने से ये उद्धरण ही उनके मतों के बारे में एकमात्र जानकारी के स्रोत हैं।

महाभारत महाकाव्य अपने विविध पर्वों में राजशासन सम्बन्धी अतुल सम्पदा संजोए हुए हैं। इनमें सभापर्व, शान्तिपर्व एवं अनुशासन पर्व में राजनैतिक विचारों का विशिष्ट अंश ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। शान्तिपर्व का राजधर्म प्रकरण राजशासन सम्बन्धी आदर्श रूप का निदर्शन करता है। इसके कई अध्यायों में राज्य की उत्पत्ति, राजा एवं मन्त्रियों के कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व का विवेचन किया गया है। इसमें राजकर्मचारियों के कर्त्तव्य व कर-व्यवस्था की चर्चा भी की गयी है। सभापर्व के पाँचवें अध्याय में राज्य व्यवस्था का सुन्दर वर्णन आदर्श उदाहरण के रूप में माना जा सकता है। आदिपर्व एवं वनपर्व में भी राज्य व्यवस्था सम्बन्धी थोड़े उल्लेख मिलते हैं। महाभारत के कुछ विवरण दन्तकथात्मक प्रतीत होते हैं। उदाहरणतया

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इसमें उल्लेख है कि आरम्भ में ब्रह्मा जी ने उस समय व्याप्त अराजकता का अन्त करके समाज को व्यवस्थित करने के उपरान्त एक लाख श्लोकों में विशाल राज्यशास्त्र की सर्जना की। बाद में इसे क्रमश: शिव, विशालाक्ष, इन्द्र, बृहस्पति तथा शुक्र ने संक्षिप्त किया।[1] संक्षेप में कह सकते हैं कि इस ग्रंथ में राज्य के अंग, उद्देश्य, स्वरूप एवं उत्पत्ति, कार्य, राजा के गुण, कर्त्तव्य अधिकार; दण्डनीति की आवश्यकता एवं प्रयोग, गणराज्य की प्रणाली, राज्य की नीति, मण्डल सिद्धान्त और अन्तर्राज्य सम्बन्ध, सैन्यव्यवस्था, युद्ध सम्बन्धी नियम, दूत, चर आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। महाभारत मूलत: काफी पहले की कृति है, किन्तु उसमें संशोधन परिवर्द्धन सम्भवत: गुप्तकाल तक होते रहे।

कुछ विद्वान अर्थशास्त्र को नन्दों के नाशकर्ता और चन्द्रगुप्त को सिंहासनारूढ़ कराने वाले कौटिल्य की रचना मानकर इसे चौथी शती ई॰पू॰ के अंतिम चरण की कृति मानते हैं तथा कुछ ईस्वी संवत् की प्रारम्भिक शताब्दियों की। अर्थशास्त्र के शाब्दिक अर्थ लेने पर ऐसी धारणा बनाना स्वाभाविक है कि यह ग्रन्थ सम्पत्ति शास्त्र पर लिखा गया है। किन्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रतिपादित विषय सामग्री को देखते हुए यह स्पष्ट है कि यह सम्पत्तिशास्त्र नहीं, वरन् मुख्यत: दण्डनीतिशास्त्र अथवा राजनीति विज्ञान का ग्रन्थ है। कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र की व्याख्या निम्न शब्दों में करते हैं :

"मनुष्यवतीभूमि: इत्यर्थ:। तस्या: पृथिव्या: लाभपालनोपाय: शास्त्रमर्थशास्त्रम्।"

(अर्थशास्त्र 15/1)

(मनुष्यों द्वारा बसी हुई भूमि को अर्थ कहते हैं। उसके लाभ एवं पालन के सम्बन्ध में जो शास्त्र व्यवस्था करे, वह अर्थशास्त्र है।)

15 अधिकरणों एवं 180 प्रकरणों में विभक्त कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र का कोश है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने तेरह आचार्यों व पाँच सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि अर्थशास्त्र मूलत: मौर्यकाल की कृति है किन्तु कालान्तर में उसमें कुछ संशोधन व परिवर्द्धन हुए। इसमें राजा के कर्त्तव्य एवं अधिकार, राज्य के सात अंग, मन्त्री एवं मन्त्रिपरिषद तथा अनेक प्रकार के विधि विधानों का निरूपण किया गया है। शिल्प संघों और निगमों, सैन्यसंगठन, अन्तर्राज्य सम्बन्ध आदि का महत्वपूर्ण विवरण इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। अर्थशास्त्र में राजा की स्थिति को सुदृढ़ बनाने तथा सामाजिक तथा आर्थिक दायित्वों के निर्वाह में मार्ग निर्देशन करने पर विशेष बल दिया है। कौटिल्य आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता, एवं दण्डनीति चार विद्याओं का उल्लेख करते हैं :

"आन्वीक्षकीत्रयीवार्तादण्डनीतिश्चेति विद्या:।"

(अर्थशास्त्र 1/1)

आन्वीक्षकी को आत्मविद्या की संज्ञा दी जा सकती है। किस कर्म से मनुष्य को सुख और किस कर्म से उसे दु:ख होता है; आन्वीक्षकी इसका बोध कराती है। त्रयी से तीन वेदों ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद का यथार्थ ज्ञान अभिप्रेत है। कृषि, पशुपालन एवं अन्य उद्योग-धन्धे वार्ता विद्या के अन्तर्गत आते हैं। कौटिल्य के अनुसार धान्य, पशु, स्निग्ध पदार्थ आदि की प्राप्ति कराने के कारण वार्ता महान उपकारिका होती है। राजा भी इस विद्या के माध्यम से उपार्जित पदार्थों से

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कोष एवं सेना का संग्रह करता है और उसके द्वारा स्वपक्ष तथा शत्रुपक्ष के लोगों को वश में रखने में समर्थ होता है।

दण्डनीति का स्पष्टीकरण करते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि आन्वीक्षकी, त्रयी एवं वार्ता का योगक्षेम दण्ड के अधीन है। जो उपलब्ध न हो उसे उपलब्ध करना, उपलब्धि की रक्षा करना, रक्षित की वृद्धि करना एवं बढ़ी हुई सुख समृद्धि को यथायोग्य स्थानों तथा पात्रों में प्रयुक्त करना दण्डनीति का कार्य है। लोकयात्रा दण्डनीति के अधीन है। वस्तुत: अराजकता एवं अव्यवस्था का अन्त करना और सुव्यवस्था की स्थापना दण्डनीति पर ही निर्भर करती है। महाभारत[2] के अनुसार भी यदि दण्डनीति न रहे तो त्रयी का नाश हो जाए, धर्म का अस्तित्व ही न रह सके और समाज की स्थिति ही सम्भव न रहे।

इस प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्र के विषय में विशद उल्लेख मिलता है। अल्तेकर[3] के अनुसार– "कौटिल्य कोरे राजनीतिज्ञ ही नहीं वरन् राजनीति के एक सम्प्रदाय के संस्थापक थे, इसी से उनका और उनके ग्रन्थ का बाद के युग में भी सम्मान होता रहा। राजनीति के वाङ्मय में अर्थशास्त्र का वही स्थान है जो व्याकरणशास्त्र में पाणिनि की अष्टाध्यायी का।"

कौटिल्य के परवर्ती कुछ आचार्यों के नाम उनके ग्रन्थ सहित मिलते हैं। उदाहरणतया शुक्रनीतिसार के रचयिता आचार्य शुक्र उराना का नाम उल्लेखनीय है जिनकी विचारधारा औशनस कहलाती है। इस ग्रन्थ में दण्डनीति एवं राजधर्म सम्बन्धी विचारधारा विस्तृत रूप में अभिव्यक्त की गयी है। शासनव्यवस्था का जैसा विस्तृत विवेचन शुक्रनीति में मिलता है, वैसा अर्थशास्त्र के बाद अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता है। यह ग्रंथ व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल देता है और इस पर धार्मिक विचारों का अपेक्षाकृत कम प्रभाव है। शुक्रनीतिसार से कतिपय ऐसे तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है जिनका अन्यत्र उल्लेख प्राय: नगण्य सा है। उदाहरणतया: राजदरबार में विभिन्न वर्ग के लोगों के आसीन होने का स्थान, मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों के कार्यक्षेत्र एवं उनके सहायकों की संख्या तथा सामन्तों की अलग-अलग श्रेणियां और उनकी आय का भी उल्लेख मिलता है.। शुक्र के अनुसार शासन पद्धति का उद्देश्य समाज की सर्वांगीण उन्नति थी। शुक्रनीति के काल के विषय में मतभेद हैं। कोई तो इसे गुप्तकालीन मानता है व कोई आठवीं शती का। रामशरण शर्मा इस मत से सहमत हैं कि इस ग्रन्थ का संकलन उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में हुआ। उनके अनुसार– "प्राचीन भारत के राजनैतिक विचारों और संस्थाओं का इतिहास पढ़ने के निमित्त इस सामग्री का प्रयोग करने के प्रलोभन से बचना चाहिए।" (प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार व संस्थाएं, पृ० 23)। अल्तेकर का कहना है कि इस ग्रन्थ का अधिकांश भाग 12वीं शती से पहले का है। यद्यपि चौदहवीं शती तक इसमें नयी सामग्री जोड़ी जाती रही।

जायसवाल के अनुसार कामन्दकीय नीतिसार चौथी शती की रचना है, लेकिन कई विद्वान इसे छठी-सातवीं शती की कृति मानते हैं और रामशरण शर्मा 800 ई० के लगभग की। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में गणराज्यों पर स्वतंत्र अध्याय है किन्तु कामन्दक में ऐसा नहीं है। सम्भवत: समुद्रगुप्त की विजयों के पश्चात् गणराज्यों का अस्तित्व नगण्य हो गया था। दायभाग का भी विवेचन करने की आवश्यकता नहीं समझी गयी क्योंकि इस पर स्मृतियों में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

थी। वस्तुत: कामन्दक अपने पूर्ववर्त्ती आचार्य कौटिल्य का ऋण स्वीकार करते हुए उनके अनेक विचारों की पुनरावृत्ति करते हैं, किन्तु उनके विचारों में कुछ मौलिकता भी देखने को मिलती है। जैसे सेना एवं अन्त: राज्यों के सम्बन्धों के विषय में कामन्दक की विचारधारा उत्कृष्ट एवं मौलिक है। कामन्दक के अनुसार उसका ग्रन्थ राजा को (भूमिश्वरं प्रति) सम्बोधित है।

मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, विष्णुस्मृति, नारदस्मृति आदि ग्रन्थों का भी प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान है। अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि मनुस्मृति ई॰पू॰ द्वितीय प्रथम शती की रचना है, याज्ञवल्क्य स्मृति और नारदस्मृति लगभग गुप्तकालीन रचनाएं हैं। इनमें वर्ण आश्रम और पुरुषार्थों का विशेष विवेचन किया गया है। धर्म और सामाजिक मर्यादा पर विशेष बल दिया गया है पर साथ ही राजनीति से सम्बन्धित विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है। स्मृति ग्रन्थों के अनुसार समाज में व्यवस्था के लिए धर्म आवश्यक है, धर्म विरोधी आचरण के लिए दण्ड की आवश्यकता होती है और दण्ड के समुचित प्रयोग के लिए राजा की आवश्यकता होती है। इन स्मृति ग्रन्थों में राजा और राजकर्मचारियों के कार्य, न्याय एवं दण्ड तथा दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों का उल्लेख मिलता है। इन स्मृति ग्रन्थों को विधिग्रन्थों की संज्ञा दी जाती है।

प्राचीन भारतीय धार्मिक साहित्य में पुराणों का भी पर्याप्त महत्व है। इनके रचनाकाल का प्रश्न विवादपूर्ण है। कुछ पुराण काफी प्राचीन हैं किन्तु कुछ की रचना गुप्तकाल के बाद भी हुई। प्राचीन पुराणों में भी समय-समय पर संशोधन परिवर्धन होते रहे। पुराणों से अनेक प्राचीन राजाओं के नाम तथा शासन सम्बन्धी तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है।

व्याकरण एवं ज्योतिष सम्बन्धी साहित्य में राजनीति सम्बन्धी तथ्यों का अत्यल्प मात्रा में उल्लेख मिलता है। उदाहरणतया पाणिनि की अष्टाध्यायी में अनेक समसामायिक गणराज्यों के उल्लेख मिलते हैं। पतञ्जलि के महाभाष्य से मौर्यकाल के पतन के उपरान्त की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। वराहमिहिर की वृहत्संहिता से गुप्तकाल के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। किन्तु व्याकरण, गणित, ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थों के राजनीति विषय साक्ष्य को पूरक रूप में लेना उचित होगा, उन्हें राज्य व्यवस्था के अध्ययन के लिए आधार मानना उचित नहीं होगा।

बाण का हर्षचरित, सन्ध्याकरनन्दी का रामचरित, विल्हण का विक्रमाङ्कदेवचरित आदिग्रन्थ मुख्यत: राजाओं की आत्मकथाएं प्रस्तुत करते हैं, इनसे प्राचीन भारतीय राजनैतिक जीवन की छवि मिलती है। कालिदास के ग्रन्थ, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस आदि भी उपयोगी हैं। कश्मीर के प्राचीन मध्यकाल के इतिहास एवं राजनीति पर प्रकाश डालने के लिए कल्हण की राजतंरगिणी का महत्व सर्वोपरि है।

सामान्यत: नीतिवाक्यामृत को ग्याहरवीं शती की रचना माना गया है। इसमें सोमदेव ने न केवल कौटिल्य अपितु मनु, भीष्म, कामन्दक, बृहस्पति आदि राजनीतिशास्त्र प्रणेताओं के मतों का भी उल्लेख किया है, जिससे उसकी महत्ता बढ़ जाती है। उसमें राज्य की उत्पत्ति, राज्य और स्वरूप, राजा की नियुक्ति, उसके कर्त्तव्य, उसका देवत्व, मंत्रियों की नियुक्ति, न्याय व्यवस्था, चर व्यवस्था, सैनिक व्यवस्था आदि पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

लक्ष्मीधरकृत 'राजनीतिकल्पतरु' महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी निश्चित तिथि ज्ञात नहीं किन्तु

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

यह पहली सहस्त्राब्दी ईस्वी के बाद का है। यद्यपि इसमें उन्होंने पूर्व आचार्यों द्वारा प्रस्तावित विचारों को ही विषय-वस्तु बनाया है और अपने काल की बदली राजनैतिक परिस्थितियों की अवहेलना की है तथापि पूर्व आचार्यों की विषय-वस्तु के चयन में पर्याप्त विवेक का आश्रय लिया गया है।

देवण भट्ट का निबन्ध ग्रंथ 'स्मृतिचन्द्रिका' (लगभग 1300 ई०) महत्वपूर्ण है जिसका राजनीतिकाण्ड राजशास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। देवणभट्ट राजशास्त्र को अर्थशास्त्र का ही अंग मानते हैं। चण्डेश्वर (चौदहवीं शताब्दी) के ग्रंथ 'राजनीति रत्नाकर' में राज्य, राजा, मन्त्री, सेना और उसके पदाधिकारी के विषय में विवेचन मिलता है। परम्परा का निर्वाह करने के साथ ही वे समकालीन राजनैतिक परिस्थिति से भी प्रभावित हुए हैं। उन्होंने राजपद के लिए क्षत्रिय होना और शास्त्रानुरूप राज्याभिषेक आवश्यक नहीं बताए क्योंकि उस समय मुस्लिम राज्य दिल्ली के सिंहासन पर आसीन था।

सत्रहवीं शताब्दी की तीन कृतियों, मित्रमिश्र कृत 'वीरमित्रोदय' का 'राजनीतिप्रकाश' खण्ड, नीलकण्ठ कृत 'नीतिमयूर' और अनंतदेव कृत 'राजधर्मकौस्तुभ, में भी राजनीति सम्बन्धी जानकारी मिलती है।

दक्षिण भारत का तमिल भाषा में लिपिबद्ध संगम साहित्य लगभग ई०पू० प्रथम शती से ईसा की प्रारम्भिक चार शताब्दियों में रचा गया। इसमें सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक जानकारी के साथ ही राजनीतिक जानकारी भी मिलती है।

बौद्ध साहित्य का प्राचीन भारत के राजतंत्र के विषय में ज्ञान के स्रोत के रूप में महत्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भिक पालि बौद्ध ग्रंथ त्रिपिटक (विनयपिटक, सुत्तपिटक, अभिधम्म पिटक) है। इन ग्रंथों को अन्तिम रूप श्रीलङ्का में प्रथम शती में दिया गया। विनयपिटक के 'महावग्ग' एवं 'चुल्लवग्ग' अंशों में बौद्ध संघ के गठन सम्बन्धी अनेक तथ्य हैं। अनुमानतः संघ में बौद्ध भिक्षुओं द्वारा अपनाए जाने वाले नियम बुद्धकालीन गणराज्यों के नियमों से लिए गए थे। धर्म के संदर्भ में राजनीतिक संघ के नियमों में उपयुक्त रूप से परिवर्तन परिवर्द्धन भी किया गया होगा तो आश्चर्य नहीं। बौद्ध ग्रंथ 'अंगुत्तर निकाय' से छठी शताब्दी ई०पू० के महाजनपदों तथा गणराज्यों का विवरण मिलता है जिसमें से राजतन्त्र सम्बन्धी सम्पदा ग्रहण की जा सकती है। सुत्तपिटक के अन्तर्गत पाँच निकाय ग्रंथ (अंगुत्तर निकाय, मज्झिम निकाय, संयुक्त निकाय, दीघनिकाय, एवं खुद्दक निकाय) है। दीघनिकाय में राज्य एवं समाज व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विवरण मिलता है। बुद्ध के पूर्व जन्म से सम्बन्धित कथाएं जातक कथाओं के नाम से सम्बोधित की जाती हैं। ये मुख्यतया लोककथाएं हैं जिनमें राजा के कर्त्तव्यों, न्याय व्यवस्था, विविध जातियों तथा लोगों के आर्थिक-सामाजिक क्रिया-कलापों का विवरण मिलता है। यद्यपि इनका रचना काल बाद का है, तथापि कुछ विद्वानों का मत है कि इसकी कुछ सामग्री बुद्ध के काल सम्बन्धी सूचना देती है। इसकी टीकाएं काफी बाद की हैं।

आरम्भिक जैन साहित्य प्राकृत भाषा में लिखा गया। इनमें 'आचरांग सूत्र', उत्तराध्ययन सूत्र' आदि ग्रंथों से शासन पद्धति सम्बन्धी प्रासंगिक वर्णन प्राप्त होते हैं। जैन ग्रंथ 'परिशिष्टपर्वन्' से छठी शती० ई०पू० के राजनैतिक जीवन के विषय में जानकारी मिलती है, यद्यपि ग्रंथ स्वयं में इससे कहीं बाद का है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विदेशी साहित्य के अन्तर्गत सिकन्दर कालीन यूनानी इतिहासकारों के वर्णन से स्पष्ट है कि उस समय पश्चिमोत्तर भारत में अनेक गणराज्य विद्यमान थे। उनके विवरणों से लगता है कि कुछ का स्वरूप यूनानी राज्यों जैसा था। समय-समय पर भारत आने वाले विदेशी यात्रियों के विवरण से भी राजशास्त्र के विषय में ज्ञान मिलता है। इनमें मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में आने वाला यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़, गुप्त राजा द्वितीय चन्द्रगुप्त के प्रशासन काल के चीनी यात्री फाह्यान, हर्ष के समय भारत आने वाला चीनी यात्री ह्वेनसांग तथा सातवीं शती ई० के उतरार्द्ध में भारत आने वाले चीनी यात्री इत्सिंग के विवरणों से प्राचीन भारतीय राजशास्त्र पर प्रकाश पड़ता है। मेगस्थनीज़ की मूल रचना 'इण्डिका' अब उपलब्ध नहीं है। बाद के यूनानी लेखकों स्ट्राबो, एरियन, डायोडोरस एवं प्लिनी ने मेगस्थनीज़ के विवरण का उपयोग अपनी कृतियों में किया है। मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य की प्रशासनिक विद्या का आँखों देखा विवरण देने का प्रयास किया जिससे मौर्ययुगीन भारतीय राजव्यवस्था के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। मेगस्थनीज़ के विवरणों में सबसे महत्वपूर्ण सैन्यसंगठन व नगर प्रशासन सम्बन्धी विवरण हैं, विशेषत: पाटलिपुत्र नगर के प्रशासन का विवरण महत्वपूर्ण है। फाह्यान ने तो मुख्यत: धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था का ही विवरण लिखा है, किन्तु ह्वेनसांग ने तो भारत की राजनैतिक स्थिति तथा हर्ष के प्रशासन सम्बन्धी विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

भारतीय राजशासन से सम्बन्धित कुछ सामग्री चीनी लेखक 'चाउ-जु-कुआ' के वर्णन में भी सुरक्षित है। उसने चोलों के प्रशासन का अत्यन्त सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है। अरब लेखकों में अबू ज़ैद एवं अल्बरुनी के वृत्तान्त भी इस क्षेत्र में हमारा मार्ग निर्देशन करते हैं।

पुरातात्त्विक साधनों को प्रमुख रूप से तीन भागों मे विभक्त किया जा सकता है :

1. अभिलेख,
2. सिक्के,
3. स्मारकों में अंकित कतिपय उपादेय शिल्प एवं चित्र।

राजशासन के ज्ञानार्जन में अभिलेखीय विवरणों का उच्चतम स्थान है। भारत के विशाल प्राङ्गण में विभिन्न समयों में शिलाओं, स्तम्भों, स्मारकों की भित्तियों पर उत्कीर्ण कराए गए लेखों में प्राचीन भारतीय राजतन्त्र से सम्बन्धित अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं। भारत के प्राचीनतम लेखों की भाषा प्राकृत तथा लिपि ब्राह्मी अथवा खरोष्ठी है। खरोष्ठी लिपि के लेख भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा क्षेत्र में ही सीमित रहे। बाद के लेख संस्कृत तथा अन्य स्थानीय भाषाओं– तमिल, तेलुगू, कन्नड़ आदि में हैं। ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में लिखे अनेक प्राचीन लेख राजनैतिक, ऐतिहासिक दृष्टि से तो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, उनसे राजा के कर्त्तव्य, सेना, कर्मचारीगण इत्यादि पर भी प्रकाश पड़ता है।

अशोक के चौदह शिलालेख सात स्तम्भ लेख, अनेक लघुस्तम्भ लेख इस क्षेत्र में ज्ञान के अतुल आगार हैं। उसके अभिलेखों से मौर्य साम्राज्य के प्रान्तों में विभाजन, राजकुमारों की प्रांतपति के रूप में नियुक्ति, मन्त्री, प्रादेशिक, राजुक, धर्ममहामात्र, प्रतिवेदक (चर) इत्यादि कर्मचारियों के कर्त्तव्य, कर्मचारियों के दौरे, दण्डव्यवस्था आदि पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। साथ ही परिषद् का भी उल्लेख मिलता है। इन लेखों से राजा के कर्त्तव्य, राजा का प्रजा को संतानवत्

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मानना और उनके सुख-सुविधाओं और नैतिक उत्थान के प्रति सदैव सजग रहना आदि के विषय में भी जानकारी मिलती है। अशोक अपने लेखों में कहता है कि सारी प्रजा मेरी सन्तान के समान है और जैसे कोई सन्तान की भलाई चाहता है वैसे ही मैं प्रजा की भलाई चाहता हूँ। छठे शिलालेख में अशोक ने लिखवाया था :

"नास्ति हि कम्मतरं सव्वलोक हितत्पा।"

"सारे लोगों के हित में तत्पर रहने से महान् अन्य कोई कार्य नहीं है।"

इस अंश के साथ ह। यह भी उत्कीर्ण कराया था कि "मैं कितना ही परिश्रम क्यों न करूँ, मुझे संतोष नहीं होता। मैं सारा परिश्रम इसलिए करता हूँ जिससे जीवमात्र के प्रति मेरा जो ऋण है उससे उऋण हो जाऊँ।" मौर्य सम्राट अशोक ने न केवल अपने ही राज्य में वरन् उसने अपने सीमावर्ती राज्यों मे भी वहाँ के निवासियों के कल्याण की कामना से औषधियों के वृक्ष लगवाए थे। ऐसे अनेक तथ्य उस प्राचीन भारतीय राजा की मनोवृत्ति के महत्वपूर्ण पक्ष को प्रकाशित करते हैं।

भारतीय अतीत में जिन महत्वपूर्ण राजवंशों का अस्तित्व विद्यमान था उनमें मौर्यों के उपरान्त शुंग वंश, सातवाहन वंश, शक, कुषाण, पहलव, गुप्त, मौखरि, वर्द्धन पाल, उत्तर भारत के अनेक राजपूत राजवंश (प्रतिहार, चन्देल, चाहमान, परमार, कल्चुरि आदि) तथा दक्षिण भारत के चालुक्य (चालुक्यों की तीन शाखाएं वातापी या बादामी, कल्याणी तथा वेंगी के चालुक्य), पल्लव, राष्ट्रकूट, पाण्ड्य तथा चोल उल्लेखनीय हैं। प्राय: इन सभी राजवंशों के अनेक अभिलेखों में राजतंत्र सम्बन्धी सम्पदा सुरक्षित है। दक्षिण भारत के कुछ छोटे राजवंशों बनवासी के कदम्ब, कोंकण के मौर्य, कर्नाटक के गंग, द्वारसमुद्र के होयसल, तथा देवगिरि के यादव राजाओं के अनेक अभिलेखों से तत्कालीन प्रशासन की झलक मिलती है। सातवीं से तेरहवीं शती ई० के मध्य भारत का इतिहास सामान्यत: अनेक राजवंशों के पारस्परिक संघर्ष की कथा प्रस्तुत करता है। इनमें चोल वंश एक ऐसा शक्तिशाली राजवंश था जिसके दो महत्वपूर्ण सम्राटों राजराज महान् तथा राजेन्द्र के समय उनके साम्राज्य की सीमाएं श्रीलंका तथा दक्षिण पूर्व एशिया के कुछ देशों तक विस्तृत हो गयी थीं। चोल अभिलेखों से उनकी प्रशासनिक क्षमता तथा दूरदर्शिता का परिचय मिलता है। चोलों का स्थानीय शासन उस युग की मौलिक विशेषता प्रस्तुत करता है। उत्तरमेरूर, तिरूवालंगाड, करण्डै (तंजौर), चाराल, तिरूमुक्कूदल आदि चोल लेख इस क्षेत्र में हमारा मार्गदर्शन करते हैं। चोल राजा व्यक्तिगत रूप से शैव धर्म के अनुयायी थे। तंजौर का वृहद्दीश्वर तथा पोलोन्नरुवा (श्रीलंका की चोलकालीन राजधानी) के सुरक्षित शिव मन्दिर एवं उसमें उत्कीर्ण लेख इसके प्रमाण हैं। शैव धर्मानुयायी चोलों ने वैदिक विद्यालयों की स्थापना करायी थी, तथा पोलोन्नरुवा के बौद्ध विहारों को दान दिया था। वीर राजेन्द्र चोल के तिरूमुक्कूदल लेख में एक चिकित्सालय में उपलब्ध औषधियों के संग्रह की सूची मिलती है। सभी अभिलेखों के माध्यम से ज्ञात ये तथ्य चोलों के प्रशासन काल की जानकारी प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र के विषय में ज्ञान अर्जित करने के लिए अभिलेखों का असाधारण योगदान है।

प्राचीन भारतीय कुछ अभिलेख प्रशस्तिमूलक हैं जिनमें राजा की विजय, धार्मिक अनुदान एवं व्यक्तिगत गुणों का विवेचन मिलता है। खारवेल का हाथीगुम्फा लेख उसकी शिक्षा, युवराजत्व,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राज्याभिषेक और राज्यकाल के तेरह वर्ष के मुख्य विवरण और अन्य उपलब्धियों का क्रमिक विवरण प्रस्तुत करता है व पौर जनपद पर उसके अनुग्रहों की चर्चा करता है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उसका अपने पिता द्वारा भरी सभा में सबसे योग्य कहकर उत्तराधिकारी घोषित किया जाना, समुद्रगुप्त की विजित के साथ नीति (उत्तरापथ के विजित राजाओं का समूलोच्छेद और दक्षिणापथ के विजित राजाओं को अधीनता स्वीकार कराकर राज्य वापस करना) आदि का उल्लेख मिलता है।

भूमि अनुदान सम्बन्धी लेख सातवाहन काल से मिलने आरम्भ होते हैं। अनुदान धार्मिक होते हुए भी इन लेखों में प्रशासनिक इकाइयों विभिन्न प्रकार के कर, और राजकर्मचारियों का उल्लेख मिलता है। बाद के कुछ राजवंशों के लेखों में थोड़े से ही कर्मचारियों का उल्लेख है किन्तु इनकी संख्या बढ़ती गयी और पूर्वमध्यकाल के कुछ लेखों में तो तीन दर्जन राजकर्मचारियों का उल्लेख मिलता है। कुछ लेख तिथियुक्त हैं। तिथि रहित लेखों की भी पुरालिपि के आधार पर लगभग तिथि निर्धारित की जा सकती है। अत: साहित्यिक सामग्री (जिसका तिथि निर्धारण संशोधन व परिवर्धन के कारण अत्यन्त जटिल है) की अपेक्षा इनका महत्व अधिक है।

लघु आकार के होने के कारण सिक्कों से विस्तृत जानकारी तो नहीं प्राप्त होती तथापि सूत्र रूप में ही सही सिक्के अपने युग की आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक दशा का उद्बोधन करते हैं। भारत के प्राचीनतम उपलब्ध सिक्के आहत मुद्राओं (पंचमार्क सिक्कों) के नाम से जाने जाते हैं। विविध आकारों के विविध मानकों (ठप्पों) से युक्त इन सिक्कों से प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। मौर्योत्तर काल के अनेक गणराज्यों यथा यौधेय, मालव, कुणिन्द, आर्जुनायन तथा अनेक जनपदों जैसे अयोध्या, पाञ्चाल आदि के सिक्कों से उन गणों एवं जनपदों पर संक्षिप्त प्रकाश पड़ता है। कुणिन्दों के सिक्कों से जानकारी मिलती है कि इस जनजाति ने सिद्धान्तत: अपना राज्य शिव को समर्पित किया था। यौधेयों के सिक्के बताते हैं कि उनका राज्य कार्तिकेय को समर्पित था। सातवाहन सिक्कों पर अंकित मस्तूल वाले जहाजों का अंकन पश्चिमी भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्धों की पुष्टि करता है। भारत के दक्षिण-पश्चिमी तटवर्ती क्षेत्रों से भारी संख्या में प्राप्त रोम साम्राज्य के सिक्के भी भारत-रोम व्यापारिक सम्बन्धों की पुष्टि करते हैं। कुछ संयुक्त रूप से चलाए गए सिक्के यथा भारतीय यूनानी सिक्के, संयुक्त रूप से शासन किए जाने के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। सोने, चाँदी, ताँबे और सीसे आदि धातुओं के बने हुए प्राचीन भारतीय सिक्के विविध राजवंशों के राजाओं की उपाधियों, धार्मिक मनोवृत्ति एवं उनके राजचिह्न तथा तिथियुक्त कुछ सिक्के प्रकाशन के निश्चित समय पर भी प्रकाश डालते हैं। कुषाण राजाओं के विविध प्रकार के सिक्कों पर अनेक भारतीय और यूनानी देवी-देवताओं का अंकन मिलता है। इससे उन सम्राटों की धर्मसहिष्णुता की पुष्टि होती है। उज्जयिनी के शक क्षत्रपों के सिक्कों पर राजा के पिता का नाम और अधिकांश पर तिथि भी मिलती है।

गुप्तकाल को भारतीय अतीत के स्वर्णिम काल की संज्ञा दी जाती है। इस काल में चन्द्रगुप्त प्रथम का राजा-रानी प्रकार का सिक्का लिच्छवियों के साथ उसके वैवाहिक सम्बन्ध तथा लिच्छवियों की प्रभावशीलता का परिचायक है। पश्चिमी मालवा के अन्तर्गत गुजरात में शकों के राज्य में चाँदी के सिक्के चलते थे। द्वितीय चन्द्रगुप्त की शकों के विरुद्ध विजय उसके पुनर्टङ्कित

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उन्हीं चाँदी के सिक्कों से पुष्टि होती है। प्रथम कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त के सोने व चाँदी के सिक्के उन राजाओं की कार्तिकेय के प्रति आस्था का भी परिचय देते हैं।

दक्षिण भारत के विविध राजवंशों के विविध राजचिह्न थे जिनका अंकन व तत्सम्बन्धी लेख उनके सिक्कों पर मिलता है। चोल राजाओं के सिक्कों पर बाघ का चिह्न, पाण्ड्यवंशी सिक्कों पर मछली का चिह्न, चेरवंशी सिक्कों पर धनुष का अंकन मिलता है। कदम्बवंशी राजाओं के सिक्के पद्मटंक सिक्कों के नाम से सम्बोधित किए जाते हैं। इनमें चाँदी के एक सिक्के पर सिंह की आकृति बनी मिलती है। दक्षिण भारत से प्राप्त ये सभी सिक्के राजशासन के इतिहास को सुगठित स्वरूप प्रदान करने में सहायक हैं।

पुरातात्त्विक साधन के अन्तर्गत कुछ स्मारकों का भी राजतंत्र के ज्ञान के लिए महत्व है। उदाहरणतया कुछ विद्वानों के अनुसार अजन्ता की पहली गुफा के एक चित्र की पहचान वातापी के चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय से की गयी है, जिसमें उसे ईरान के राजा खुसरोपरवेज द्वारा भेजे गए राजदूत का स्वागत करते हुए प्रदर्शित किया गया है। यदि यह पहचान सही है तो यह स्पष्ट है कि चित्र सातवीं शती ई॰ में ईरान के साथ भारत के मधुर सम्बन्धों का प्रमाण है। अरब लेखक तबरी के वृत्तान्त से तो ईरान व भारत के बीच दूत-आवागमन की पुष्टि होती है।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय राजतंत्र के विषय में ज्ञान के लिए साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक दोनों प्रकार के साक्ष्यों का विशिष्ट स्थान है। वस्तुत: समय-समय पर विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा भारतीय साहित्य एवं कला को पहुँचाई जाने वाली क्षति के कारण बहुत सामग्री नष्ट हो गयी। सम्भवत: यही कारण है कि अनेक साधनों का सहारा लेकर ही प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था की क्रमबद्ध रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है।

पाद टिप्पणियाँ

1. महाभारत, शान्ति पर्व 57 ; 58।
2. 'मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां,
   सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुः विवृद्धाः।।' –महाभारत, शान्तिपर्व 62/28।
3. अनन्त सदाशिव अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ॰ 11।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

2

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

समाज की सुव्यवस्था, नियम पालन, न्याय, सुरक्षा एवं कल्याण की भावना एक सुयोग्य शासन व्यवस्था द्वारा ही सम्भव है। ऋग्वेद में इन्द्र को देवताओं का राजा कहा गया है।

'ता ईम् विशो राजानं वृणना।'

(ऋग्वेद 10.124.8)

'राजा का वरण करती हुई प्रजा (विश) के समान वे भयभीत होकर वृत्त से दूर भाग गए' से प्रजा द्वारा राजा के वरण (चुने) किए जाने की प्रतिध्वनि मिलती है। ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थों, महाभारत, रामायण, बौद्ध ग्रंथ दीघनिकाय, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, शुक्रनीतिसार आदि में राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनका क्रमबद्ध विवेचन करते हुए राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी चार विभिन्न मतों (सिद्धान्तों) का प्रतिपादन किया जा सकता है।

1. दैवी सिद्धान्त,
2. सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त,
3. युद्धमूलक सिद्धान्त,
4. विकासवाद का सिद्धान्त।

इन सिद्धान्तों में कुछ तो किंवदन्तियों, दन्तकथाओं एवं परम्परागत विश्वासों पर आधारित हैं। कुछ विवरण ज्ञान एवं तर्क पर आश्रित हैं। ऐतिहासिक घटनाओं से इनमें से अनेक तथ्यों की पुष्टि होती है।

1. दैवी सिद्धान्त

राज्य के दैवी उत्पत्ति सम्बन्धी कुछ उल्लेख यजुर्वेद में मिलते हैं। वस्तुत: राजा की दैवी उत्पत्ति व राज्य की दैवी उत्पत्ति दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। यजुर्वेद के एक मन्त्र के अनुसार :

"हे राजन ! तेरी नियुक्ति की जा रही है; दिव्यगुणों से परिपूर्ण विश: (प्रजा) तुझे स्वीकार करे। मनुष्यों के उपयुक्त समृद्धियां तुझे प्राप्त हों; तू द्युलोक की सन्तान है; इस पृथ्वी के समस्त प्राणी व अरण्य के समस्त पशु तेरे हैं।' (यजुर्वेद 6/6)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रस्तुत प्रसंग में 'दिवः सूनुः' अर्थात् द्युलोक का पुत्र कहना इस बात का साक्षी है कि यजुर्वेद की मान्यता में राजा को इस लोक का प्राणी न मानकर आकाश का वासी देवपुत्र माना गया। इससे राजा के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की झलक मिलती है।

अथर्ववेद के अनुसार राजा इन्द्र, सोम, वरुण, मित्र, यम, पितर, सविता आदि देवों का अंश है।[1] अर्थात् राजा का निर्माण इन देवताओं के अंशों के संग्रह से हुआ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख है कि इन्द्र ने प्रजापति के तेज को धारण कर राजपद प्राप्त किया। राजपद प्राप्ति हेतु प्रजापति के विशिष्ट अंश अथवा तेज को धारण करना आवश्यक है। इससे भी राजा व राज्य के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लेख है कि एक ऐसा युग था जब मानव सर्वथा सदाचारी होता था। जब न राज्य था और न राजा, न दण्ड था और न दण्ड देने वाला, धर्मानुसार प्रजा के लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते थे :

नैव राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणेव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति च परस्परम्।।

महाभारत के ही अनुसार यह स्थिति सदैव नहीं रही। समाज में अशान्ति एवं अराजकता का प्रादुर्भाव हुआ तब इस दुखद स्थिति से मुक्त होने के लिए लोग ब्रह्मा जी के पास गए। ब्रह्मा ने दण्डनीति अर्थात् प्रशासनिक विधियां बनाईं। आचारशास्त्र का निर्माण कर ब्रह्मा ने मानसपुत्र विरजस का सृजन किया और उसे राजा बनाया। इससे स्पष्ट होता है कि राज्य की उत्पत्ति दैवी थी तथा यही उत्पत्ति राजा के दैवी अधिकारों का आधार थी। पतित जीवन का अंत करने एवं उसकी आज्ञा पालन हेतु प्रजा ने अपनी सहमति प्रदान की थी। महाभारत में उल्लेख है कि राजा विहीन देश में धर्म, जीवन एवं सम्पत्ति नष्ट हो जाती है, अतः देवों ने प्राणियों की रक्षा हेतु राजा की नियुक्ति की।

मनुस्मृति[2] के अनुसार ईश्वर ने राजा का निर्माण इन्द्र, अग्नि, यम, वायु, वरुण, चन्द्र और कुबेर (देवताओं) का अंश लेकर किया। अतः यदि कोई बालक भी राजा हो तो उसका असम्मान नहीं करना चाहिए क्योंकि वह नर रूप में देवता ही है। मत्स्य पुराण[3] में भी इसी आशय की प्रतिध्वनि मिलती है :

दण्ड प्रणयनार्थाय राजा सृष्टः स्वयम्भुवा।
देवभागानुपादाय सर्वभूतादि गुप्तये।।

समस्त प्राणियों की रक्षा तथा न्यायपूर्वक दण्ड प्रणयन हेतु देवताओं का अंश लेकर स्वयंभू ने राजा की सर्जना की।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र[4] में वर्णन है कि राजा इन्द्र और यम का स्थानीय होता है। दया एवं क्रोध उसमें प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान रहते हैं। जो उसका अपमान करता है वह दैवी दण्ड का भागी होता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में सर्वत्र राजा के दृढ़ स्थायित्व पर बल दिया है और उसकी स्थिति को सुदृढ़ करने हेतु ही उसको देवता के समान कहा है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जैन ग्रन्थकार जिनसेन के अनुसार जैन धर्म के प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभनाथ ने समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना हेतु राजा एवं अधिकारी नियुक्त किए तथा लोगों का विभिन्न वर्गों में उनके कर्मानुसार विभाजन किया। इस तथ्य के मूल में राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का पुट मिलता प्रतीत होता है।

प्रस्तुत तथ्यों में राजा व राज्य की दैवी उत्पत्ति का पोषण किया गया है। श्री जे॰ एन॰ फिग्गिस ने अपनी पुस्तक 'द डिवाइन राइट्स ऑफ किंग्स' में चार महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किए हैं :

1. राजत्व दैवी है अर्थात् इसका स्थापन दैवी शक्ति के माध्यम से किया गया है।
2. राजत्व पर आनुवंशिक अधिकार है। तात्पर्य यह है कि राजपद वंशानुगत है।
3. राजा पूर्णत: स्वतंत्र है वह केवल परमात्मा के प्रति उत्तरदायी है।
4. राजाज्ञा का पालन ईश्वर द्वारा निर्धारित नियम है। वस्तुत: किसी भी स्थिति में राजा का विरोध पाप है।

इन चारों तथ्यों के मूल में राजा की सर्वश्रेष्ठ स्थिति निरूपित है। चाहे इन्हें पूरे रूप में स्वीकार किया जाए या नहीं पर राज्य की दैवी उत्पत्ति सम्बन्धी विचारधारा का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में विविध विचारकों ने किया है।

2. सामाजिक अनुबन्धवाद का सिद्धान्त

प्रशासक एवं प्रजा के बीच का अनुबन्ध (समझौता) इस सिद्धान्त के अन्तर्गत आता है। इससे इस तथ्य की झलक मिलती है कि शासन या सरकार जनता की स्वीकृति पर निर्भर है। यजुर्वेद में पुरोहित राजा को सम्बोधित करते हुए कहता है– "हे प्रस्तावित राजन् ! मैं कृषि समृद्धि, धन-ऐश्वर्य, सार्वजनिक कल्याण तथा सार्वजनिक पोषण के निमित्त राजपद पर तेरा अभिषेक करता हूँ।"

इससे ध्वनित होता है कि राजा का कार्य सार्वजनिक कल्याण व राष्ट्र समृद्धि का था। इसीलिए उसे अभिषिक्त किया जाता था। यह कार्य उसके व प्रजा के बीच अनुबन्ध स्वरूप माने जा सकते हैं।

इस विचारधारा का दर्शन 'ऐतरेय ब्राह्मण[5]' में निम्न प्रकार मिलता है– प्रजापति के नेतृत्व में देवताओं ने परस्पर कहा कि हमारे मध्य इन्द्र, कार्यों के सम्पादन के लिए सर्वाधिकार स्वस्थ, शक्तिसम्पन्न पूर्ण एवं सर्वोत्तम हैं। अत: उन्होंने उसे राजपद पर प्रतिष्ठित करने एवं उनका महाभिषेक करने का निश्चय किया। इस अभिषेक में विभिन्न प्रकार के राजसंस्कार किए गए।

सम्भवत: युद्ध की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए इन्द्र की शारीरिक स्वस्थता पर विशेष बल दिया गया है। इन्द्र को राजा मनोनीत करने के मूल में यह विश्वास था कि वे असुरों को पराजित करेंगे। प्रस्तुत तथ्यों से अनुबन्ध का स्पष्ट स्वरूप मुखरित नहीं होता। बौद्ध ग्रन्थ 'दीघनिकाय' में राज्य की उत्पत्ति के अनुबन्धवाद रूप का प्रतिपादन किया गया है। इसके अनुसार अराजकता से त्रस्त लोगों ने एकत्रित होकर निश्चय किया कि ऐसे व्यक्ति को प्रधान रूप में चुना जाए जो सर्वाधिक समर्थित, सबसे अधिक आकर्षक एवं सर्वाधिक योग्य हो। तब ऐसे योग्य व्यक्ति ने प्रतिज्ञा की कि 'वह वहीं पर क्रोध करेगा जहाँ उसे क्रोध करना चाहिए, उसी की

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भर्त्सना करेगा जिसकी भर्त्सना होनी चाहिए, उसी को निर्वासित किया जायेगा जिसे निर्वासन का दण्ड मिलना चाहिए। इसके बदले में लोगों ने उसे अपनी सम्पत्ति का एक भाग देना स्वीकार किया। इस प्रकार जिस व्यक्ति का निर्वाचन हुआ उसने तीन उपाधियाँ धारण कीं :

1. महासम्मत 2. खत्तिय 3. राजा।

महासम्मत से तात्पर्य सभी लोगों द्वारा निर्वाचित, खत्तिय का अर्थ कृषि का मुखिया एवं राजा का आशय धर्म द्वारा लोगों को मोहित करने वाला माना गया है।

'ऐतरेय ब्राह्मण' में युग की आवश्यकता को देखते हुए शारीरिक बल पर तथा 'दीघनिकाय' में जनप्रियता आकर्षण एवं योग्यता पर बल दिया गया है। महावंश में भी उल्लेख है कि प्रथम राजा 'महासम्मत' कहलाया। पञ्चगरू जातक एवं तेलपत्त जातक में उल्लेख है कि बोधिसत्व को प्रजा ने राजा चुना था। इन जातकों में प्रजा एवं राजा के बीच किसी विशिष्ट अनुबन्ध के उल्लेख नहीं मिलते।

'महाभारत के शान्तिपर्व में राज्योत्पत्ति के अनुबन्ध स्वरूप के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इसके अनुसार लोगों ने ब्रह्मा के पास जाकर एक ऐसे अधिपति की याचना की जो उनकी रक्षा करे। ब्रह्मा ने मनु से इस कार्य के लिए कहा। पहले तो मनु ने अनिच्छा व्यक्त की क्योंकि दुष्ट एवं मिथ्याभाषी जनों पर शासन करना कठिन था। बाद में मनु ने इस शर्त पर राजा बनना स्वीकार किया कि लोग उनके कोष की वृद्धि के लिए अपना 1/50 पशु, 1/50 सोना एवं 1/10 अन्न देंगे। साथ ही जो लोग युद्ध में निपुण हैं वे मनु का उसी प्रकार अनुगमन करेंगे जैसे देवता इन्द्र का करते हैं। राजा (मनु) द्वारा रक्षित प्रजा को पुण्यार्जन करेगी उसका चौथा भाग राजा को मिलेगा। इसके बदले राजा अपनी प्रजा की रक्षा करेगा। प्रस्तुत अंश में अनुबन्ध का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट है।

'महाभारत' के शान्तिपर्व में ही एक स्थल पर अनुबन्धवाद का स्वरूप निम्न प्रकार मिलता है :

"प्रशासन का भार संभालने हेतु विष्णु ने एक मानस पुत्र उत्पन्न किया किन्तु उसने तथा उसके वंशजों ने संन्यास ले लिया तब राजा वेन ने प्रजा को उत्पीड़ित किया। ऋषियों ने वेन को मारकर उसकी दाहिनी जंघा से पृथु को उत्पन्न किया। ऋषियों ने स्पष्ट शब्दों में पृथु से प्रतिज्ञा करवाई कि वह दण्डनीति के अनुसार शासन करेगा, ब्राह्मणों को अदण्डनीय मानेगा तथा विश्व को वर्णसंकरता से बचाएगा। पृथु ने वचन दिया कि वह वही करेगा जो सर्वथा उचित एवं राजशास्त्र सम्मत है। वह ब्राह्मणों की पूजा करेगा।" प्रस्तुत विवरण से पृथु की वेन की जंघा से उत्पत्ति ग्राह्य नहीं प्रतीत होगी। ब्राह्मणों को अदण्ड्य मानना एक वर्ग विशेष के साथ अनुबन्ध का प्रतीक भासित होता है। इससे ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति की उच्चता का परिचय मिलता है।

'रामायण' के अयोध्याकाण्ड में उल्लेख है कि राजा दशरथ ने राम को युवराज पद देने हेतु सामन्तों, नागरिकों एवं ग्रामिकों आदि की सभा आमन्त्रित की थी। उन सभी आगन्तुकों ने प्रसन्नतापूर्वक अपना अभिमत राम के लिए व्यक्त किया था। रामायण में प्रजा द्वारा राजा चुनने का आशय एक अन्य स्थल पर भी व्यक्त होता है। राजा दशरथ के निधन के उपरान्त मार्कण्डेय एवं वामदेव आदि मुनियों ने अमात्यों के साथ कुलपुरोहित वशिष्ठ से कहा था कि राम-लक्ष्मण

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वन चले गए हैं, भरत एवं शत्रुघ्न केकय देश में हैं अतएव इक्ष्वाकु कुल के किसी वंशज को राजा मनोनीत करना चाहिए। इन मुनियों एवं अमात्यों के लिए रामायण में 'राजकर्तार:' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत तथ्यों से राजा के निर्वाचन की पुष्टि होती है पर अनुबन्ध के स्वरूप पर प्रकाश नहीं पड़ता।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्य की उत्पत्ति के अनुबन्ध सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से वर्णन है। इसके अनुसार अराजकता की स्थिति में पड़कर लोगों ने मनु वैवस्वत को अपना राजा निर्वाचित किया तथा यह निर्णय किया कि वे अपने सोने का एक अंश देने के अतिरिक्त अन्न का षष्टम भाग तथा विक्रय की गई वस्तु का दशमांश राजा को देंगे। वनों की आय का 1/6 भाग भी राजा का होगा। राजा (मनु वैवस्वत) ने प्रजा को वचन दिया कि वह अनिष्टकारी कार्यों का विरोध करेगा, अपराधियों को कर एवं दण्ड से पीड़ित करेगा। इस प्रकार समाज के कल्याण का उत्तरदायी बनेगा। अर्थशास्त्र में उल्लिखित प्रस्तुत अंश से राजा एवं प्रजा के मध्य हुए समझौते का स्वरूप स्पष्ट है। यदि अर्थशास्त्र को मौर्ययुग की रचना माना जाए तो विदित होता है कि व्यापार राज्य की आय का निश्चित साधन बन चुका था। इससे राजा की स्थिति सुदृढ़ होती थी।

बुद्ध का जीवन चरित प्रस्तुत करने वाले बौद्ध ग्रन्थ 'महावस्तु' में राज्य की उत्पत्ति के अनुबन्ध सिद्धान्त का रूप देखने को मिलता है। यहाँ सर्वाधिक सुशोभन एवं शक्ति सम्पन्न व्यक्ति को निर्वाचित किए जाने और उसके 'महासम्मत' कहलाने का उल्लेख है। 'महावस्तु' के अनुसार राजा का कार्य दण्डनीय को दण्डित करना तथा सुपात्रों को पुरस्कार द्वारा सम्मानित करना था। उचित ढंग से प्रजा की रक्षा एवं पालन करने वाले राजा को धान की उपज का भाग पाने का अधिकार है। 'दीघनिकाय' की रचना के पर्याप्त समय उपरान्त लिखे गए इस बौद्ध ग्रंथ से राजा एवं प्रजा के बीच अनुबन्ध का भाव स्पष्ट हो जाता है।

3. युद्धमूलक सिद्धान्त

इस मत के अनुसार युद्ध की भयावना से त्रस्त प्राणियों ने राज्य संस्था की स्थापना की। इस विचारधारा का मूलरूप ऐतरेय ब्राह्मण[6] में मिलता है। देवताओं एवं असुरों में युद्ध हो रहा था। देवता पराजित हो गए। तब देवों ने एकत्र होकर निश्चय किया कि हमारा कोई राजा नहीं है, यही हमारी पराजय का कारण है। इस पर सभी देवताओं ने अपने लिए राजा बनाना स्वीकार किया। इस प्रकार राजा की उत्पत्ति हुई। प्रस्तुत अंश में इस तथ्य पर बल दिया गया है कि युद्ध की आवश्यकता के कारण विवश होकर राज्य संस्था की उत्पत्ति हुई। इसे राज्य की उत्पत्ति के युद्धमूलक सिद्धान्त की संज्ञा दी जा सकती है।

4. विकासवाद का सिद्धान्त

कतिपय विद्वानों के अनुसार प्रारम्भ में लोग संगठित नहीं थे। जब लोग किसी निश्चित स्थान पर बसे तब परिवार के आधार पर उनका संगठन हुआ। परिवार में वृद्धि होती गई। इस प्रकार कई परिवार एक साथ रहने लगे और इस तरह ग्राम बने। ग्राम का एक मुखिया बना जिसे ग्रामणी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कहा जाता था। धीरे-धीरे कई ग्रामों का अस्तित्व प्रकाश में आया। ये कई ग्राम सामूहिक रूप से जनपद का रूप ले चुके होंगे। लोगों का संगठन अनेक जनों के रूप में प्रकाश में आया होगा। सम्भवत: जनपद के मुखिया को राजा की संज्ञा दी गई होगी। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से इस क्रमिक विकास पर प्रकाश पड़ता है। प्रजाजनों को सामूहिक रूप से 'विश:' की संज्ञा दी गयी थी। राजा के लिए 'विशपति' शब्द का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद तथा कालान्तर के ग्रन्थों में इस विचार का पोषण किया गया है। तात्पर्य यह है कि राज्य का अस्तित्व समाज के क्रमिक विकास का फल था। इसे विकासवाद के सिद्धान्त की संज्ञा दी जा सकती है।

राज्य की उत्पत्ति चाहे क्रमिक विकास का परिणाम हो अथवा मात्स्यन्याय से त्रस्त लोगों ने अपने में से सर्वाधिक योग्य व्यक्ति को दुष्टों के आतंक से बचाने के लिए राजा चुना हो; चाहे आस्था के मनोभावों ने राजा तथा राज्य की उत्पत्ति को दैवी रूप दिया हो या परस्पर समझौते के माध्यम से राजा अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए प्रेरित किया गया हो, जिसके बदले में प्रजा उसे अन्न या हिरण्य के रूप में कुछ देती रही हो; यह नितान्त सत्य है कि राज्य का अस्तित्व प्रजा के कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक था। इस संस्था की उत्पत्ति के लिए कोई न कोई कारण अपरिहार्य रूप से उत्तरदायी था।

पाद टिप्पणियाँ

1. अथर्ववेद 8 से 14/15/10।
2. मनुस्मृति 7/4-6।
3. मत्स्यपुराण 226/1।
4. कौटिल्य अर्थशास्त्र 1/9।
5. ऐतरेय ब्राह्मण 8.12-17।
6. ऐतरेय ब्राह्मण 1/14।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

3
कतिपय शासन संस्थाएँ

1. सभा

वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं परवर्ती साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक स्रोतों से विदित होता है कि प्राचीन भारतीय राजतंत्र में 'सभा' एवं 'समिति' नामक संस्थाओं का विशिष्ट योगदान था। वैदिक साहित्य के बिखरे विवरणों को संकलित करके समय-समय पर अनेक विद्वानों ने इन संस्थाओं की भूमिका को उजागर करने का प्रयत्न किया। इनमें सर्वप्रथम सभा के अस्तित्व, कार्य एवं तत्सम्बन्धी अन्य तथ्यों को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

ऋग्वेद में सभा का उल्लेख आठ बार हुआ है।[1] इन ऋचाओं में से एक में सभा के सदस्यों को 'सभेय विप्र' की संज्ञा दी गयी है।[2] एक अन्य स्थान पर उल्लेख है– 'तुम अपने घर को भद्र बनाओ, तुम्हारी वाणी भद्र हो, और तुम चिरकाल तक सभा में रहो।[3] ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा में उपासक लोगों द्वारा गृहकार्य कुशल तथा सभा एवं यज्ञ में प्रमुखता रखने वाले पुत्रों की याचना की गयी है, यहाँ 'सभेय' (सभा में बैठने योग्य) शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में स्त्री को 'सभावती' अर्थात् सभा में सम्मिलित होने योग्य कहा गया है।[4] ऋग्वेद के अनुसार धनी लोग अपने पूर्ण वैभव के साथ सभा में जाते थे :

"हे इन्द्र, तेरा मित्र सुन्दर है तथा घोड़ों, रथों और गायों का धनी है। वह सदा उत्तम अन्न से सम्पन्न है; वह ऐश्वर्य के साथ सभा में जाता है।" (ज़िमर पृ० 173)[5]

वैदिक आर्यों के पालतू एवं सर्वथा उपयोगी पशु गायों की श्रेष्ठता की सभा में चर्चा का उल्लेख ऋग्वेद[6] में मिलता है :

"ओ गायों .... सभा में ऊँचे स्वर से तुम्हारी श्रेष्ठता की चर्चा की जाती है।"

ऋग्वेद में सभा का एक विशेषण 'किल्विषस्पृत' मिलता है।[7] इस शब्द का अर्थ है 'वह जो अभियोग द्वारा किसी व्यक्ति पर लगाए गए कलंक को दूर करता है।'[8]

ऋग्वेद में एक उल्लेख यह भी है कि सभा में अक्ष (पासा) और जुआ खेला जाता था।[9] प्रस्तुत अंशों पर दृष्टि डालने से कहा जा सकता है कि पूर्व वैदिक युग में सभा का सदस्य होना गौरवपूर्ण समझा जाता था। इसके पुरुष सदस्यों को 'सभेय तथा स्त्री सदस्याओं को सभावती' कहा जाता था। उस युग में स्त्रियों को भी सभा की सदस्यता का अधिकार था। सम्पन्न सदस्य सजधज कर सभा में जाते थे। देवताओं से सभा के योग्य सन्तान की कामना की जाती थी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

न्याय करना सभा का एक महत्वपूर्ण कार्य था। इसके साथ ही सभा में समय-समय पर मनोरंजन भी होता रहा होगा।

वाजसनेय संहिता[10] में एक सभा में किए गए पापकर्म एवं उनके प्रायश्चित का उल्लेख है:

"हम ग्राम, वन तथा सभा में किए गए अपने प्रत्येक पापकर्म का प्रायश्चित यज्ञ द्वारा करते हैं। टीकाकार महीधर की व्याख्या के आधार पर रमेश चन्द्र मजूमदार का मत है कि एक अर्थ निश्चित रूप से वाद-विवाद के सन्दर्भ में महापुरुषों के विरुद्ध अनुचित भाषा के प्रयोग की ओर संकेत करती है, और यह स्वत: सभा के कार्य के स्वरूप का एक चिह्न है। दूसरी व्याख्या सम्भवत: सभा की न्रायिक क्षमता से सम्बद्ध है, तथा उसका आशय विवादों के निर्णय में किए गए किसी प्रकार के पक्षपात से है।"[11]

वाजसनेयी संहिता में सभाओं एवं सभापतियों (सभाओं के अध्यक्ष) को प्रणाम किया गया है।[12] इसमें 'सभाचर' शब्द आया है। इसका अर्थ काणे ने सभासद अर्थात् न्याय सम्बन्धी सभा का सदस्य किया है।[13]

इस प्रकार वाजसनेय संहिता के उल्लेखों में सभा सम्बन्धी तथ्यों से विदित होता है कि सभा की सदस्यता समाज में आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। यदि जाने-अनजाने में किसी प्रकार की भूल हो जाती थी तो उस पर प्रायश्चित किया जाता था।

अथर्ववेद में सभा और समिति को प्रजापति की दुहिताएं कहा गया है।[14] अथर्ववेद में सभा के लिए 'नरिष्ठा' शब्द का प्रयोग मिलता है :

"हे सभे, मैं तेरा नाम जानता हूँ। तेरा नरिष्ठा नाम ठीक ही है। जो भी तेरे सभासद हैं वे मेरे समान वाणी का व्यवहार करें।"[15]

अथववद के अनेक मन्त्रों में सभा की महत्ता तथा उनके सदस्यों के विचारों में समरूपता प्रतिष्ठापित करने के वर्णन हैं। उदाहरणतया 'सभा मेरी रक्षा करे, उसके जो सभ्य सभासद हैं, वे मेरी रक्षा करें।[16] एक स्थल पर सभा, समिति और सेना को एक ही मन्त्र में उल्लिखित किया गया है।[17]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'सभापाल' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका तात्पर्य सभा के वरिष्ठ सदस्य से रहा होगा। सभा सम्बन्धी प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक युग में यह संस्था संकल्पशक्ति से युक्त निष्ठावान् सदस्यों से संयुक्त होती थी। सभा के सदस्य तत्युगीन प्रशासनिक, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे, साथ ही समय-समय पर मनोरंजन करते हुए वे अपने जीवन को रसमय रखते रहे होंगे। निश्चय ही सभा जैसी शक्ति सम्पन्न संस्था केन्द्रीय एवं स्थानीय राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन का आधार रही होगी।

2. समिति

ऋग्वेद में समिति के अल्प उल्लेख मिलते हैं। किन्तु उत्तर वैदिक साहित्य, विशेषकर अथर्ववेद में समिति सम्बन्धी अनेक उल्लेख है। इनके तार्किक विश्लेषण से इस संस्था की उपयोगिता असंदिग्ध रूप से विशिष्ट महत्वमयी प्रतीत होती है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ऋग्वेद के एक मन्त्र में राजा की समिति में सम्मिलित होने के लिए जाने का निर्देश मिलता है।[18] राजा समिति को अपने अनुकूल रखने के लिए चेष्टावान रहता था। उदाहरणतया: ऋग्वेद की एक ऋचा में राजा समिति के सदस्यों (सामित्यों) से निम्न अंश कहता है :

'हे सामित्यो! मैं सब प्रयत्नों से विजयी एवं तेजस्वी होकर आया हूँ। तुम्हारा विचार और तुम्हारी समिति मुझे स्वीकार है।[19]

ऋग्वेद[20] एवं वाजसनेय संहिता[21] में उल्लेख है कि विप्र एक भिषक् (वैद्य) है, जिसमें औषधियां उसी प्रकार एक साथ आती हैं, जिस प्रकार राजा लोग समिति में जाते हैं।

ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त के कुछ मन्त्रों में धार्मिक कृत्यों तथा प्रार्थनाओं द्वारा समिति को धार्मिक महत्व प्रदान करने का उल्लेख है। ऋग्वेद के बहुप्रचलित निम्न अंश में जिस पारस्परिक सहयोग तथा सामंजस्य की कामना की गयी है वह प्रत्येक युग में अपना वर्चस्व रखती है :

'एकत्र हो, मिलकर भाषण करो, तुम्हारे विचार समान हों। जिस प्रकार पुरातन देवता अपने निश्चित स्थानों पर बैठते हैं उसी प्रकार स्थान समान हैं, समिति समान है, चित्त समान है, व्रत समान है। मैं तुम्हारे समक्ष एक साधारण प्रयोजन रखता हूँ। तुम्हारा व्रत समान हो, और तुम्हारा चित्त समान हो। सबके विचार समान हों, जिससे सब प्रसन्नतापूर्वक सहमत हो सकें।[22]

इस प्रकार के उद्‌गारों से समिति में ऐक्य की महत्ता स्पष्ट होती है।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में समिति में अग्नि देव का आवाहन किया गया है जिससे वह बलि का अपना अंश ग्रहण करे। इसमें देवताओं के बीच देव समिति की कामना की गयी है।[23] अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में राजा के लिए समिति का सहयोग प्राप्त करना अपेक्षित बताया गया है। राजा की ध्रुव रूप से सत्ता के लिए समिति का उसके अनुकूल होना आवश्यक माना जाता था।[24] राजा के लिए समिति का वही महत्व था जो भैंस के लिए जंगल का, सोमरस के लिए घड़े का और पुरोहित के लिए यजमान का था।[25] जो राजा स्वेच्छाचारी होने का यत्न करे समिति उसके वश में नहीं रह सकती थी।[26] मजूमदार के अनुसार समिति वह आधार-स्तम्भ थी जिसके बिना राजशक्ति के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती थी।[27] अथर्ववेद में उल्लेख है कि 'जो ब्राह्मण को पीड़ित करता है उसे समिति नहीं भाती।[28] अथर्ववेद के एक मन्त्र के अनुसार रामशरण शर्मा का मत है कि महिलाएं भी इसमें सम्मिलित होती थीं।[29] किन्तु उनकी भूमिका के बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं है।

अथर्ववेद के एक सूक्त में समिति में होने वाले सार्वजनिक वाद-विवाद की सान्दर्भिक चर्चा में एक व्यक्ति द्वारा स्वयं विजयी होने के लिए किए गए प्रयासों को अत्यन्त मनोहारी ढंग से प्रस्तुत किया गया है। मजूमदार[30] ने इसका सम्यक् विवरण प्रस्तुत किया है :

एक व्यक्ति उत्तर-पूर्व दिशा से एक विशिष्ट पौधे की जड़ को चूसता हुआ समिति में प्रवेश करता था। बोलते समय वह उक्त जड़ को अपने मुँह में रखता, उसका एक रक्षायन्त्र या ताबीज बांधता और उसकी सात पत्तियों की एक माला पहनता था।

''हे औषधे, मेरे शत्रु वाद-विवाद में किसी प्रकार विजयी न हो सकें। तू शत्रुओं से टक्कर लेकर उन्हें अभिभूत करती है। वाद-विवाद में मेरे प्रतिवादी के प्रतिवाद को नष्ट कर उन्हें नीरस कर दे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'हे औषधे, सुपर्ण ने तुझे खोजा है। सूकर ने तुझे अपने थूथुन से खोदा है। प्रतिवाद को नष्ट कर।

'हे औषधे, असुरों के नाश के लिए इन्द्र ने तुझे अपनी भुजा पर रखा। प्रतिवाद को नष्ट कर।

'इससे मैं शत्रुओं को पराभूत करूँगा जिस प्रकार इन्द्र ने सालवृकों को पराभूत किया था। प्रतिवाद को नष्ट कर।

'हे रोगनाशक भेषज वाले नील शिखण्ड वाले, कर्मकृत रुद्र प्रतिवाद को नष्ट कर।

'हे इन्द्र तुम उसके प्रतिवाद का पराभव करो जो हमें क्षीण करता है (अर्थात् हमारे प्रति शत्रुभाव रखता है) हमें शक्तियां प्रदान करो। मुझे वाद-विवाद में प्रबल करो।

उपरलिखित अंश से कई महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाशित होते हैं। वैदिक युग में लोग सफलता प्राप्ति के लिए देव-प्रार्थना के साथ-साथ जादू-टोने (भूत विद्या जैसे तावीज धारण करना, पौधे की जड़ चूसना और पत्तियों की माला पहनना) में भी विश्वास रखते थे। वे समिति जैसी महत्वपूर्ण संस्था में वाद-विवाद में विजय की उपलब्धि के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते थे।

ब्राह्मण ग्रन्थों में 'समिति' से सम्बन्धित वर्णनों का प्राय: अभाव है। उपनिषदों में छान्दोग्य[31] तथा वृहदारण्यक[32] का एक उल्लेख उदाहरणनीय है :

श्वेतकेतु आरुणेय गौतम एक विद्वान युवक थे, जिन्होंने चौबीस वर्ष की आयु में सभी प्रकार के धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य का पूर्ण ज्ञान अर्जित कर लिया था। वे अपनी शिक्षा समाप्ति के उपरान्त तुरन्त एक समिति में गए जो पाञ्चालों की समिति अथवा परिषद कहलाती थी (पांचालानां समितिमेयाय, पांचालानां परिषदमाजगाम) पाञ्चालों की जनसभा के अध्यक्ष राजन्य (क्षत्रिय) प्रवाहण जैवलि ने श्वेतकेतु से पांच दार्शनिक प्रश्न किए। इनमें से किसी का भी उत्तर विवाद के इच्छुक अभिमानी श्वेतकेतु नहीं दे सके। इस पर प्रवाहण जैवलि में कहा कि भला जो आदमी ये सब बातें नहीं जानता, वह कैसे कह सकता है कि मैंने शिक्षा अर्जित की है।

दो उपनिषदों में उल्लिखित प्रस्तुत अंश से एक निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि उपनिषद् काल में समिति विद्वानों की ज्ञान परीक्षा हेतु उपयुक्त संस्था रही होगी।

समिति से सम्बन्धित वैदिक साहित्य के उल्लेखों से जो तथ्य प्रकाश में आते हैं उनके आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि तत्कालीन राजतन्त्र पर बल दिया जाता था, देव प्रार्थना करके राजा समिति को अपने वश में रखने के लिए प्रयत्नशील रहता था। समय-समय पर होने वाले उच्च कोटि के वाद-विवादों से नैतिक उत्कर्ष होता रहा होगा। इस संस्था में वाद-विवाद में भाग लेने वाले लोग देवार्चन के साथ-साथ तन्त्र-मन्त्र का भी सहारा लेते रहे होंगे।

'सभा' और 'समिति' के सम्बन्ध में अथर्ववेद में उल्लिखित प्रजापति की दो दुहिताओं के आधार पर यह प्राय: निश्चित है कि ये दोनों संस्थाएं अलग-अलग थीं। दोनों संस्थाओं के सम्बन्ध में जिन महत्वपूर्ण विचारकों ने अपने जो तथ्य प्रस्तुत किए हैं उनमें कुछ का उल्लेख करना यहाँ समुचित प्रतीत होता है। लुडविग का मत है कि सभा में पुरोहित, धनिक आदि उच्च वर्ग के लोग सम्मिलित होते थे और समिति के साधारण लोग रहते थे।[33] ज़िमर का अनुमान है कि सभा ग्राम-संस्था थी और समिति पूरे जन की केन्द्रीय परिषद् थी। यही मत अल्तेकर का भी है।[34] हिलेब्राण्ड का मत है कि सभा उस संस्था का नाम था जहाँ लोग एकत्रित होते थे और समिति एकत्रित समूह को कहते थे।[35]

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वैदिक ऋचाओं से स्पष्ट होता है कि 'सभा' एवं 'समिति' अपने युग की उन श्रेष्ठ संस्थाओं में थीं जिनकी विशिष्ट सामाजिक प्रतिष्ठा थी। इनमें भाग लेने वाले आर्य स्वस्थ मनोबल से युक्त तार्किक क्षमता वाले भद्र पुरुष होते थे। जिस प्रकार समारोहों में वाद-विवाद के साथ अनुरंजन है तद्वत् सोम पान एवं अक्ष क्रीडा 'सभा' जैसी संस्था के अंग थे। निःसंदेह 'सभा' और 'समिति' वैदिक काल के राजतन्त्र में सम्यक् भूमिका प्रस्तुत करती रही होगी।

3. विदथ

वैदिक साहित्य में 'विदि्थ' का उल्लेख विविध प्रसंगों में अनेक बार मिलता है। वस्तुतः ऋग्वेद में 122 बार तथा अथर्ववेद में 22 बार विदथ का उल्लेख है। वाजसनेयी संहिता में 10, ब्राह्मण ग्रंथों में 21, तथा तैत्तिरीय आरण्यक में 1 बार विदथ का उल्लेख हुआ है।[36] ये वर्णन वैदिक साहित्य में वर्णित दो अन्य संस्थाओं, सभा एवं समिति, की अपेक्षा अधिक हैं। ऋग्वेद में इसका सर्वाधिक 122 बार उल्लेख उस काल में इसकी महत्ता का परिचायक है।

'विदथ' शब्द की उत्पत्ति 'विद्' धातु से हुई है जिसका अर्थ ज्ञान अथवा सत्य का अन्वेषण करना है। ऋग्वेद में आए अनेक प्रसंगों के आधार पर अल्तेकर प्रभृति विद्वानों ने विदथ को विद्वानों की सभा की संज्ञा दी है।[37] उदाहरणतया ऋग्वेद के एक अंश के अनुसार विदथ में विद्वान ब्राह्मण एकत्र होते थे।[38] यह क्रान्तदर्शियों की संस्था थी।[39] विदथ का सदस्य होना गौरवपूर्ण समझा जाता था। ऋग्वेद में उल्लेख है कि विदथ की सदस्यता सोम की उपासना का प्रसाद है। विदथ की सदस्यता के लिए कतिपय विशिष्ट योग्यताओं से संयुक्त होना आवश्यक था। निर्भीकता वाणी की ओजस्विता एवं सार गर्भिता सदस्यता के लिए अपेक्षित थे। ऋग्वेद में उल्लेख है कि विदथ के सदस्य को यथार्थ वक्ता होना चाहिए।[40-41] इसी वेद में ही एक अन्य स्थल पर उपमा देते हुए कहा गया है कि अश्विनीकुमार यज्ञ में उसी प्रकार पधारने की कृपा करें जिस प्रकार देवस्तुति में निपुण दो ब्राह्मण विदथ में आते हैं।[42]

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से विदित होता है कि 'विदथ' में वृद्धों एवं नारियों को विशिष्ट सम्मान प्राप्त था। अथर्ववेद में एक गृहस्वामी की मृत्यु से निवारण के लिए प्रार्थना का उल्लेख है जिसमें वह जीवित रहकर विदथ में अपनी बात रख सकें। वैदिक साहित्य में 'योषा' एवं 'सूर्या' नामक स्त्रियों के विदथ में भाग लेने का उल्लेख है। सूर्या को विदथ में आए हुए लोगों के बीच बोलने के लिए कहा गया था। विवाह जैसे मांगलिक अवसर पर यह कामना की गयी है कि वधू केवल गृहिणी के रूप में ही न रहे वरन् धैर्यपूर्वक विदथ के समक्ष बोले भी।[43]

प्रस्तुत उल्लेखों के आधार पर कई तथ्य प्रकाश में आते हैं। विदथ जैसी संस्था का पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा होगा। इसमें स्त्रियां एवं पुरुष दोनों ही भाग लेते रहे होंगे। उन्हें अपने विचारों को निर्भय होकर व्यक्त करने की स्वतंत्रता रही होगी। विदथ में वृद्धों को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त रहा होगा। विद्वता की अतिशय प्रतिष्ठा होने के कारण अनर्गल प्रलाप सम्भवतः नहीं होते रहे होंगे। वैदिक युग की इस संस्था में महत्वपूर्ण तथ्यों पर वाद-विवाद होता रहा होगा।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विदथ से सम्बन्धित अनेक उल्लेख कतिपय अन्य तथ्यों को भी उद्घाटित करते हैं। उदाहरणतया विदथ में अग्नि की विजयिनी शक्ति की प्रशंसा की गयी है। इन्द्र को विदथ की शक्ति कहा गया है। पूषन (पोषण के देवता) को विदथ का वीर कहा गया है। विदथों में यज्ञ सफल बनाने के लिए इन्द्र एवं वरुण का आह्वान किया गया है। विदथ में उपस्थित लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, विश्वदेवों तथा अन्य देवों की उपासना करते थे। ऋग्वेद की एक ऋचा में इन्द्र का आह्वान विदथ में एकत्रित लोगों को धन का वरदान देने के लिए किया गया है।[44]

अग्नि, इन्द्र तथा मरुत् देवता की उपासना विदथ में बहुश: की जाती थी। सायण ने अनेक वैदिक ऋचाओं के आलोक में विदथ के धार्मिक पक्ष को प्रबल देखते हुए इसे यज्ञ का पर्याय माना। वस्तुत: वैदिक ऋचाओं के विदथ सम्बन्धी बिखरे हुए उद्धरणों को संकलित करने के उपरान्त इसे केवल यज्ञ की संज्ञा देना उचित प्रतीत नहीं होता। ब्लूमफील्ड ने भी इसका खण्डन किया है।[45] ऋग्वेद की एक ऋचा में विदथ में अग्नि देव की प्रशंसा करते हुए सुवीरों से पूर्ण भण्डार के साथ धन, खाद्य सामग्री तथा उत्कृष्ट सन्तानों के रूप में प्रचण्ड शक्ति अर्जित करने की कामना की गयी है।[46]

ऋग्वेद की एक ऋचा में सोम का वर्णन 'हमारे विदथों में बूंदों के रूप में' किया गया है जिससे मालूम होता है कि लोग विदथ में सोम पान का आनन्द लेते थे।[47] विदथ को आर्यों का सोमपान एवं क्रीडा स्थल भी माना है। ऋग्वेद में उल्लेख है कि मरूद्गण अपने विदथों में क्रीडा करते हैं।[48] विदथ में अश्वों के गुणों की भी चर्चा होती थी।[49]

इस विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि इस संस्था में लोग सामूहिक रूप से एकत्र होकर न केवल देवोपासना अथवा उच्च आध्यात्मिक विषयों पर वाद-विवाद ही करते थे वरन् मनोरंजन भी करते थे। वेदों में ऐसी अनेक ऋचाएं हैं जिनमें समष्टिगत रूप से विदथ में वीरपुत्रों की (सुवीरों) कामना की गयी है। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में आया है कि वीर पुत्रों से युक्त होकर हम विदथ में जोर से भाषण करें।[50]

पूर्ववैदिक युग में अनेक छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व था। आर्यों एवं अनार्यों का संघर्ष प्राय: होता रहता था। विभिन्न आर्यों के राज्यों में भी परस्पर संघर्ष होता रहता था। अत: वीर सन्तान की उपलब्धि सामरिक दृष्टि से भी महत्व रखती थी। सामान्य रूप से बलशाली पुत्रों की कामना प्राय: प्रत्येक माता-पिता को रहती है। इसी उद्देश्य से विदथ में सुवीर पुत्रों की कामना की गयी।

विदथ में राजाओं के सम्मिलित होने के कतिपय उद्धरण मिलते हैं।[51] एक ऋचा में स्वर्ग में बुद्धिमानों के विदथ में सम्मिलित होने की चर्चा मिलती है। ये दोनों उल्लेख वैदिक युग की इस संस्था का महत्व स्पष्ट करते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वैदिक युगीन संस्थाओं में 'विदथ' की महत्वपूर्ण भूमिका थी। यह सामूहिक रूप से धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति के लिए की गयी शुभाशंसा से समन्वित थी। प्रशासनिक कार्यों में यह संस्था राजा को कितना योगदान देती थी, कहना कठिन है। वैदिक ऋचाओं के आलोक में यह प्राय: निश्चित है कि विदथ में समाज के श्रेष्ठ लोग सम्मिलित होते थे। ऐसे लोगों की आवश्यकता राजा को सदैव रही है जो राज्य के नागरिकों को अपने गुणों से सत्पथ की और अग्रसर करे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

4. पौर जानपद

प्राचीन भारतीय साहित्यिक एवं अभिलेखिक साक्ष्यों के आधार पर विद्वानों ने समय-समय पर 'पौर - जानपद' की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से काशी प्रसाद जायसवाल ने इसे भारतीय अतीत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था का श्रेय दिया है जो राजा को पीठासीन तथा पदच्युत भी कर सकती है।[52] इसके विपरीत अल्तेकर मानते हैं कि 600 ई० पू० से 600 ई० तक के काल में 'पौर-जानपद' नामक कोई लोकसभा प्राचीन भारत में न थी।[53] अल्तेकर सहित अनेक विद्वानों ने पौर का अर्थ पुर या नगर निवासी एवं जानपद का अर्थ जनपदया ग्राम के निवासी माना है। प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्र सम्बन्धी स्रोतों के आधार पर 'पौर-जानपद' सम्बन्धी निम्न उल्लेख मिलते हैं।

ऋग्वेद[54] में 'पौर' शब्द का उल्लेख मिलता है। काणे[55] के अनुसार यह एक स्थल पर तीन प्रकार से प्रयुक्त हुआ है – (1) अश्विनौ के साथ, (2) मुनि पौर (जो आत्रेय थे) के साथ तथा (3) बादल के साथ (सायण के अनुसार)। इससे वैदिक युग में पौर का किसी विशिष्ट संस्था के रूप में अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता, प्रत्युत यह उल्लेख मात्र है।

वस्तुतः पौर-जानपद के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य से कोई उपयोगी प्रकाश नहीं पड़ता वरन् महाकाव्यों, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, धर्मसूत्रों, स्मृतियों, दिव्यावदान, मृच्छकटिक नाटक, दशकुमारचरितम्, खारवेल का हाथीगुम्फा लेख एवं रुद्रदामन के लेख के कतिपय अंश इस सम्बन्ध में प्रकाश डालते हैं। रामायण[56] में उल्लेख है कि दशरथ ने जब राम को अपना उत्तराधिकारी घोषित करना चाहा तो उन्होंने एक परिषद् बुलाई जिसमें पौर-जानपद जन भी सम्मिलित हुए। इस परिषद् में ब्राह्मण, बलमुख्य और पौर-जानपद उपस्थित थे। रामायण के एक श्लोक के अनुसार– 'पौर-जानपद और नैगम (निगम अथवा व्यापारियों का संगठन) राम के राज्याभिषेक की प्रतीक्षा कर रहे हैं।[57]

यहाँ नैगम का अर्थ व्यापारियों का संगठन है। जायसवाल के अनुसार पौर-जानपद शब्द का प्रयोग नैगम के साथ होना विशिष्ट संस्था होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है।[58] अल्तेकर 'पौर जानपदाः का अर्थ यहाँ इसके बहुवचन में प्रयुक्त होने के आधार पर जन साधारण मानते हैं।[59] रामायण के उस प्रसंग में जब भरत राम को मनाने के लिए वन गए हैं, पौर-जानपद का उल्लेख है।[60] यहाँ भी जायसवाल महोदय पौर-जानपद को महत्वपूर्ण संस्था मानते हैं। उनके अनुसार पौर वास्तव में नगर निवासियों की एक सभा या संस्था थी, जिसे राजनगर की आन्तरिक व्यवस्था आदि का उसी प्रकार अधिकार प्राप्त होता था, जिस प्रकार आजकल नगरपालिकाओं को प्राप्त होता है।[61] किन्तु अल्तेकर के अनुसार उसका तात्पर्य उन अनेक लोगों से है जो श्री राम को लौटाने के लिए भरत के साथ गए थे।[62]

महाभारत के शान्तिपर्व में पौर-जानपद का उल्लेख मिलता है।[63] इसके अनुसार आपत्ति की आशंका से जब राजा कोष के लिए धन संचय करना चाहे तो उसे संश्रित (अधिवेशन में उपस्थित) एवं उपाश्रित (जो विश्राम कर रहे हों) सब प्रकार के पौर-जानपदों, चाहे वे अल्प धन वाले ही हों, के प्रति अनुकम्पा प्रदर्शित करे।[64] इसी सन्दर्भ में राजा द्वारा एक तर्कपूर्ण मनोवैज्ञानिक ढंग से आकर्षित करने वाले भाषण का भी वर्णन है।[65] सत्यकेतु विद्यालंकार ने इसका विवरण देते

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हुए कुछ विशिष्ट पौरों एवं जानपदों के समक्ष राजा द्वारा धन की मांग का उल्लेख माना है।

महाभारत के उद्योग पर्व में एक-एक स्थान पर ब्राह्मणों एवं वृद्धों के साथ पौर-जानपद का उल्लेख है।[66] राजा प्रतीप अपने ज्येष्ठ पुत्र देवापि को अभिषिक्त करना चाहता था; देवापि कुष्ठ रोगी था। ब्राह्मणों, वृद्धों और पौर-जानपद ने यह कहकर इसका विरोध किया कि देवता हीन अंग वाले राजा का अभिनन्दन नहीं करते। इस पर देवापि का अभिषेक न होकर मंझले भाई वाह्लीक की अनुमति से छोटे भाई शान्तनु का अभिषेक हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि राजा स्वेच्छाचारी नहीं होते थे। उन पर अंकुश लगाने में पौर-जानपद का भी योगदान था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अनेक स्थलों पर पौर-जानपद का उल्लेख मिलता है। उदाहराणतया समाहर्ता (कोष के लिए धन एकत्र करने वाला राजकीय अधिकारी) का एक कार्य पौर-जानपद से भिक्षा (भिक्षा के रूप में मांग प्रस्तुत करना) लेना था।[67] अर्थशास्त्र के एक अंश के अनुसार अल्पकोष वाला राजा पौर-जानपद को ग्रसित करता है।[68] कौटिल्य ने लिखा है कि राजा दिन के द्वितीय भाग में (दिन को आठ भागों में विभाजित किया गया था) पौर जानपद के प्रयोजनों पर विचार करते थे।[69]

अर्थशास्त्र[70] के एक अंश का अर्थ जायसवाल ने यह किया है कि पौर-जानपद ने सिक्के ढालने वाले अधिकारी द्वारा सोने के सिक्के ढलवाए। काणे के अनुसार यह अर्थ निम्न प्रकार होना चाहिए।

"सिक्का बनाने वाला सभी लोगों के लिए, जब कि वे उसके पास सोना-चांदी लेकर आते थे, उचित (निर्धारित) माप के सोने एवं चांदी के सिक्के बना देता था।"[71]

मनुस्मृति[72] में जानपद धर्म का उल्लेख है। अल्तेकर ने इसका अर्थ देश धर्म अर्थात् देश प्रथाएं या लोकाचार किया है।[73] याज्ञवल्क्यस्मृति[74] में ग्रामगण, श्रेणिगण एवं जानपद गण का उल्लेख है। राजा को इनके द्वारा की गयी संविदा (नियम) का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।[75] याज्ञवल्क्य स्मृति के एक अन्य अंश के अनुसार चोरी गया हुआ धन राजा को जानपद को लौटा देना चाहिए।[76]

बृहस्पति के अनुसार पौरों के कुछ शान्तिक (शान्ति बनाए रखने) एवं पौष्टिक (पुष्टि करने वाले) कार्य भी होते थे।[77] एक अन्य स्थल पर पौर गण का उल्लेख ग्राम-गण के साथ किया गया है।[78]

गौतम धर्मसूत्र[79] में उल्लेख है कि पौर का भूतपूर्व सदस्य चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो व 80 वर्ष से कम आयु का हो तो भी ब्राह्मण को उसे सम्मान देना चाहिए।

बौद्ध साहित्य 'दिव्यावदान' में अशोक के प्रशासन काल में तक्षशिला में राजकीय अमात्यों के दुष्कर्मों से पीड़ित प्रजा द्वारा किए गए विद्रोह का उल्लेख मिलता है जिसे शान्त करने के लिए अशोक ने अपने पुत्र कुमार कुनाल को भेजा था। जब तक्षशिला के 'पौरों' को कुनाल के आगमन की सूचना मिली तो नगर तथा 3-1/2 योजन नगर तक पहुँचने का मार्ग सजाया गया। कालान्तर में कुनाल की आँखें निकलवाने के लिए अशोक की एक रानी तिष्यरक्षिता (कुनाल की विमाता) ने षड्यन्त्र करके तक्षशिला के पौरों को इस दुष्कर्म हेतु आज्ञा प्रेषित करवायी थी।[80]

दिव्यावदान की कथा में प्रथम सन्दर्भ में पौर का उल्लेख समस्त पुरवासियों के लिए माना जा सकता है परन्तु तिष्यरक्षिता द्वारा प्रेषित राजाज्ञा कुछ विशिष्ट व्यक्तियों (पौरों) को ही दी गयी होगी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अभिलेखीय विवरणों में शकक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम के शक संवत् 72 (72+78=150 ई०) के जूनागढ़ शिलालेख में सुदर्शन झील के बाँध टूट जाने पर उसके पुनर्निर्माण का उल्लेख है।[81] इसमें पौर-जानपद जन के अनुग्रह के लिए और सम्पूर्ण आनर्त एवं अनूप (सौराष्ट्र काठियावाड़) के पालन हेतु सेतु निर्माण किए जाने का वर्णन आया है।

कलिंग के राजा खारवेल के हाथीगुम्फा लेख में उल्लेख है कि उसने पौर-जानपद पर लाखों अनुग्रह किए।[82] प्रस्तुत दोनों लेखों में वर्णित पौर-जानपद से तात्पर्य प्रजावासियों से ही प्रतीत होता है।

'मृच्छकटिकं' नाटक में एक राजा के भाई का उल्लेख है। राजा पदच्युत कर दिया गया था तथा उसका भाई पौरों को आश्वस्त करके राजा बना। राजसत्ता के इस परिवर्तन का समाचार लेकर एक दूत 'जनपद समवाय' के पास आया। यहाँ 'जानपद' शब्द का उल्लेख न होकर 'जनपद समवाय' का उल्लेख है। 'दशकुमारचरित' में राजा के भाइयों की पौर जानपदों के साथ मैत्री का उल्लेख आया है।

पौर-जानपद से सम्बन्धित प्राचीन भारतीय स्रोतों की समीक्षा करने के उपरान्त यह कहना संगत प्रतीत होता है कि सम्भवत: सामान्य रूप से पौर से तात्पर्य पुर अथवा नगर निवासियों से एवं जानपद का अर्थ जनपद या ग्रामवासियों से था। युग के साथ शब्दों के अर्थ एवं मान्यताओं में कतिपय परिवर्तन होते रहे हैं। अत: पौर एवं जानपद कभी कभी नगर एवं ग्राम के कुछ विशिष्ट सम्माननीय व्यक्तियों का भी उद्बोधक हुआ। राजकीय कार्यों में 'पौर-जानपद' की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

पाद टिप्पणियाँ

1. राम शरण शर्मा, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ० 11।
2. उताशिष्टा अनुश्रृण्वन्ति वहन्य: सभेयो विप्रो भरतेमती धना। -ऋग्वेद-1/24/13।
3. भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवायो वृहद्वो वय उच्यते सभासु। -ऋग्वेद-6/28/6।
4. ऋग्वेद -1/167/3।
5. रमेश चन्द्र मजूमदार के ग्रन्थ 'कारपोरेट लाइफ इन ऐंशियण्ट इण्डिया' का अनुवाद कृष्णदत्त वाजपेयी कृत प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 127।
6. ऋग्वेद -6/28/6।
7. वही 10/71/10।
8. कृष्णदत्त वाजपेयी, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 128।
9. ऋग्वेद 10/34/6।
10. वाजसनेयी संहिता 3/45 एवं 20/17।
11. बाजपेयी, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 128।
12. वाजसनेयी संहिता 16/24।
13. पी० वी० काणे कृत 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र,' जिल्द 2 का अनुवाद - अर्जुन चौबे काश्यप कृत, पृ० 616।
14. सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ....।-अथर्ववेद - 7/1/63
    वैदिक युग में परिवार में पुत्रियां सामान्यतया गोर्क्षन का कार्य करती थीं, इस कारण पुत्री के लिए दुहिता शब्द का प्रयोग मिलता है। गोदोहन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

15. अथर्ववेद, 7/1/2।
'सायण' ने 'नरिष्ठा' शब्द की व्याख्या लोगों के न तोड़े जा सकने वाले संकल्पों से की है। ग्रिफिथ ने नरिष्ठा का अर्थ परिसंवाद और ह्विटनी ने खेलकूद किया है।
16. सभ्य समां मे पाहि ये च सभ्या: सभासद:। – अथर्ववेद, 19/55/6।
17. तं सभा च समितिश्च सेना च – (अथर्ववेद - 15/9/2)।
18. परि सद्भाव पशुमान्ति होता राजा ने सत्य: समितिं रियान: – ऋग्वेद, 9/92/6।
19. अभिभूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना।
आवश्चित्तमावो व्रतमावोडहं समितिं ददे।। – ऋग्वेद 10/1/66।
20. ऋग्वेद 10/96/6।
21. वाजसनेय संहिता 12/80।
22. संगच्छध्वं संवद्धध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथापूर्व संजानाना उपासते।।
समानो मन्त्रो समिति: समानीसमान मन: सह चित्तेषाम्।
समान मन्त्रममिमन्त्रये व: समानेन वोहविया जुहोमि।।
समानो व आकूति: समाना ह्रदयानि व:।
समानमस्तु वो मनो यथा व: सुसहसति।। – ऋग्वेद 10/191/2-4।
विस्तृत उल्लेख हेतु दृष्टव्य बाजपेयी 'प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 118-119।
23. अथर्ववेद 18/1/26।
24. ध्रुवाय ने समिति: कल्पितामिह। – अथर्ववेद 6/88/3।
25. बाजपेयी, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 118।
26. नास्मै समिति: कल्पते न मित्रं नयते वशम्। – अथर्ववेद 5/19/15।
27. बाजपेयी, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 118।
28. अथर्ववेद 5/19/15।
29. रामशरण शर्मा, 'प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ० 105।
30. बाजपेयी, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 114।
31. छान्दोग्य उपनिषद् 5/13।
32. वृहदारण्यक उपनिषद् 6/2।
33. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 101।
34. वही, पृ० 101।
35. वही, पृ० 100।
36. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ० 80।
37. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 101।
38. ऋग्वेद 3/93/6।
39. ऋग्वेद, 2/1/3।
40. ऋग्वेद 1/167/1।
41. ऋग्वेद 1/39/2।
42. अथर्ववेद 12, 2-30।
43. विस्तृत विवरण के लिए देखिए – रामशरण शर्मा कृत 'प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं' पृ० 81।
44. अस्मभ्यं तद्वसो दानाय राध: समर्थयस्व बहु ते वसव्यं। इन्द्र यच्चित्रंश्रवस्था अनुद्यून्वृहद्वदेम विदथे सुवीरा:।।

–ऋग्वेद 2/13/13

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

45. ज॰ अ॰ ओ॰ सो॰, 204-206. (देखिए रामशरण शर्मा, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ॰ 87)।
46. विदथे मन्म शंसि, अस्मे अग्ने संयद्वीरम् बृहतं क्षुमंतं बाजं स्वपत्यं रयीं दा: –ऋग्वेद II /4/8।
47. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ॰ 88।
48. क्रीडन्ति क्रीडा विदथेषु प्रवाच्यो यं देवासेऽवथा स विचर्षणि:। – ऋग्वेद 4/36/5।
49. ऋग्वेद 1/162.2।
50. वृहद् वदेम वदथे सुवीरा:। – ऋग्वेद 2/1/16।
51. ऋग्वेद 1/21/2; 3/55/7।
52. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, काशी प्रसाद जायसवाल कृत 'हिन्दू पॉलिटी भाग 2, पृ॰ 60-108।
53. अल्तेकर, 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति' पृ॰ 105।
54. ऋग्वेद, 5/74/4।
55. पाण्डुरंग वामन काणे: 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र' खण्ड 2 का अर्जुन चौबे काश्यप कृत अनुवाद, पृ॰ 617।
56. रामायण 2/2/20-22।
57. उपनिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम्।
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृतांजलि:।।

–रामायण - 2/14/54।
58. जायसवाल कृत 'हिन्दू पॉलिटी'– भाग 2 का सत्ताइसवां एवं अट्ठाइसवां प्रकरण इस संदर्भ में विस्तृत विवरण से युक्त है। 'पौर-जानपद' की महत्वपूर्ण व्याख्या सत्यकेतु विद्यालंकार ने अपने ग्रंथ 'प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र' में अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की है। वे भी पौर-जानपद को प्राचीन भारत की महत्वपूर्ण संस्था मानते हैं।
59. अल्तेकर, 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति', पृ॰ 105-106।
60. आसीनस्त्वेव भरत: पौरजानपदं जनम्।
उवाच सर्वत: प्रेक्ष्य किमार्यं अनुशासथ।। – रामायण 2/14/40।
61. काशी प्रसाद जायसवाल कृत 'हिन्दू पॉलिटी' का हिन्दी अनुवाद 'हिन्दू राजतन्त्र' भाग 2, पृ॰ 131-132।
62. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ॰ 106।
63. आपदर्थ च निचयान् राजानो हि विचिन्वते।
पौरजानपदान्सर्वान् संश्रितोपाश्रितांस्तथा।
यथा शत्तयनुकम्पेत सर्वान् स्वल्प धनान्यपि।। – महाभारत शान्तिपर्व 78/23-24।
64. वही।
65. इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य, अल्तेकर : 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति', पृ॰ 110।
66. महाभारत उद्योग पर्व, अध्याय 149, श्लोक 13 से 28 तक।
67. तस्याकरणे वा समाहर्ता कार्यपदिश्य पौरजानपदान् भिक्षेत्।
68. वही 2/1।
69. द्वितीये पौरजानपदानां कार्याणि पश्चेत। – अर्थशास्त्र 8/19।
70. अर्थशास्त्र 2/14।
71. द्रष्टव्य काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, अर्जुन चौबे काश्यप कृत अनुवाद, पृ॰ 618।
72. जातिजानपदान्धर्माश्रेणी धर्मश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्माश्च स्वधर्मप्रतिपालयेत्।।

–मनुस्मृति 8/41।
73. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ॰ 107।
74. कुलानि जाती: श्रेणीश्च गणान् जानपदानपि।

–याज्ञवल्क्य 1/360

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

75. वही, 1/361।
76. वही, 2/36।
77. वीरमित्रोदय, पृ० 423।
78. वीरमित्रोदय, पृ० 11।
79. ऋत्विक्श्वसुरपितृकमातुलानां तु यवीयसां प्रत्युत्थानमभिवादनाद्या: यथाऽन्यपूर्व: पौर: अशीतिकावर: शूद्रोऽपत्यसमेन। – गौतम धर्मसूत्र 6/9-10।
80. दिव्यावदान, पृ० 410
81. दिनेश चन्द्र सरकार, 'सेलेक्ट इन्सक्रिपशन्स', पृ० 175-180।
82. अनुगह-अनेकानि सत-सहसानि विसजति पौर-जानपदं।

–दिनेश चन्द्र सरकार, 'सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स', पृ० 215

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

4

राज्य की सप्त प्रकृतियाँ

प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों ने राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उसके सात अंगों की कल्पना की, जोसप्ताङ्ग राज्य के नाम से जानी जाती है। ये अंग निम्न हैं :
(1) स्वामी, (2) अमात्य, (3) जनपद (राष्ट्र), (4) पुर (दुर्ग), (5) कोष, (6) दण्ड (बल), (7) मित्र।

कौटिल्य ने राज्य के इन सात अंगों को सप्तप्रकृतियों की संज्ञा दी है।[1] शुक्रनीतिसार में राज्य की कल्पना शरीर के रूप में करते हुए उल्लेख है कि इस शरीर रूपी राज्य में राजा मूर्धा (सिर) के समान है, अमात्य नेत्र हैं, सुहृद या मित्र कान हैं, कोष मुख है, बल मन है, दुर्ग हाथ हैं और राष्ट्र पैर हैं।[2]

राज्यशासन के सुचारू रूप से संचालन में सभी अंगों की सराहनीय भूमिका होती है। अत: राज्य के किसी भी अंग को भयंकर रूप से विकारग्रस्त नहीं होना चाहिए।

1. स्वामी

स्वामी का अर्थ प्रधान या अधिपति है। नृपतंत्र एवं गणतन्त्र दोनों के प्रधान के लिए यह शब्द सर्वथा उपयुक्त है। कौटिल्य के अनुसार स्वामी को आभिजात्य (उच्च कुल में उत्पन्न), प्रज्ञा, उत्साह तथा वैयक्तिक गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। कौटिल्य ने सप्तप्रकृतियों में स्वामी की भूमिका को सर्वोपरि माना है। उनके अनुसार स्वामी राज्य में कूटस्थानीय होता है। यदि वह उत्थानशील हो तो राज्य की अन्य प्रकृतियाँ भी उत्थानशील होती हैं; यदि वह प्रमादी (आलस्ययुक्त) हो तो अन्य सभी उसी के समान हो जाते हैं। जहाँ तक पुरालेखों का सम्बन्ध है 'स्वामी' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम राक अभिलेखों में हुआ है।[3]

प्रस्तुत संदर्भ में उल्लेखनीय है कि स्वामी अथवा राजा दण्ड शक्ति का प्रतीक है। सुशासन की स्थापना दण्ड द्वारा ही सम्भावित मानी गयी है। महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लेख है कि दण्ड उस मर्यादा का नाम है जो मनुष्यों में असंमोह (अव्यवस्था के निराकरण) एवं अर्थ के संरक्षण हेतु स्थापित की गयी है।[4] दण्ड द्वारा ही सबका (प्रजा का) शासन होता है, दण्ड द्वारा ही सब की रक्षा होती है। जब सब सोते हैं तब दण्ड ही जागृत रहता है। अत: बुद्धिमान लोग दण्ड को ही धर्म मानते हैं।[5]

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वस्तुत: दण्ड वह मर्यादा है जिसके द्वारा प्रजा जनों के कार्य नियन्त्रित होते हैं। इसके साथ ही राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था। उत्तर वैदिक साहित्य में उल्लेख मिलता है कि उसे राज्याभिषेक के अवसर पर प्रजा के प्रति कल्याणकारी भाव रखने की शपथ लेनी पड़ती थी। प्रजाजनों के प्रतिनिधियों के रूप में रत्नियों से उनका सहयोग प्राप्त करना होता था। समिति जैसी संस्था राजा को पदच्युत तक कर सकती थी। राजा को राजकीय कार्यों में अमात्यों से परामर्श करना आवश्यक था। स्वधर्म का पालन करते हुए राजा का कर्त्तव्य था कि उसकी प्रजा नैतिक नियमों का अनुपालन करे। महाभारत के अनुसार "राजा ही सतयुग का स्रष्टा है, और राजा ही त्रेता, द्वापर और कलियुगों का कारण है।"[6]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा के निम्न गुणों का प्रतिपादन किया गया है।

"वह अत्यन्त उच्च कुल का हो, उसमें दैवी बुद्धि और दैवी शक्ति हो, वह वृद्धजनों (अपने से बड़ों) की बात सुनने वाला हो, धार्मिक हो, सत्यभाषण करने वाला हो, परस्पर विरोधी बातें न करे, कृतज्ञ हो, अति उच्च लक्ष्य वाला हो, उत्साहशक्ति से पूर्ण हो, वह दीर्घसूत्री न हो, सामन्तों को वश में रखने में समर्थ हो, उसकी बुद्धि दृढ़ हो, उसकी परिषद् छोटी न हो और वह विनय (नियंत्रण) में रहने वाला हो।"[7]

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं के अनुसार राजा में बुद्धि एवं पराक्रम का समन्वय होना चाहिए। उसे इन्द्रिय जयी होने के साथ निर्णय में दक्षता एवं शीघ्रता का परिचय देना चाहिए। वस्तुत: सप्ताङ्ग राज्य में स्वामी के लिए यह एक आदर्श था। व्यावहारिक रूप में वैदिक साहित्य से लेकर बारहवीं शती ई० तक बहुसंख्यक राजाओं के विविध रूपों के उदाहरण उपलब्ध हैं। गणतन्त्रात्मक शासन में गणमुख्य को भी राजा कहा गया है। जबकि कई गणराज्यों के सामूहिक संघ के मुखिया को संघमुख्य कहा जाता था।

2. अमात्य

सप्ताङ्ग राज्य में दूसरा स्थान अमात्य का है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में उल्लेख है कि राजा को अपने गुरुजनों एवं अमात्यों से बढ़कर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत नहीं करना चाहिए।[8] अमात्य को मन्त्री का पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। सामान्यतया मन्त्रियों की संख्या कम होती थी जबकि महाभारत में अमात्यों की संख्या 37 बताई गई है। अर्थशास्त्र में अमात्य एक स्थायी सेवा संवर्ग के सदस्य हैं।[9] इसी संवर्ग से प्रधान, पुरोहित, मन्त्री, समाहर्ता, कोषपाल, धर्मस्थीय एवं कण्टकशोधन न्यायालयों से सम्बन्धित अधिकारी, राजाओं के अन्त:पुर का प्रबन्ध करने वाले अधिकारी, दूत विभिन्न विभागों के मुख्यों की नियुक्ति की जाती थी।

पालि बौद्ध साहित्य में अमात्य के लिए 'अमच्च' शब्द का प्रयोग किया गया है। जातकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अमात्य राजकीय समस्याओं के निराकरण हेतु समयोचित सम्मति देते थे। वे राजकीय कल्याण के लिए उपयोगी उपायों की कार्यरूप में परिणत करने में निपुण होते थे। समय-समय पर उनकी राजाओं से गुप्तमन्त्रणा होती थी। वे बड़ी संख्या में नियुक्त किए जाते थे। अधिकांश उल्लेखों से प्रकट होता है कि अमच्चों (अमात्यों) को व्यवहारों (वोहार) अर्थात् विधि सम्बन्धी विवादों के निराकरण और विनिच्चय (विनिश्चय) अर्थात् आरोपों की सुनवाई करने हेतु न्यायाधिकारियों एवं दण्डाधिकारियों के रूप में नियुक्त किया जाता था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कामन्दक के नीतिसार में एक स्थान पर उल्लेख है कि राजधानी में रहते हुए राजा को कोष और सेना से सज्जित होकर अपने मन्त्रियों और अमात्यों के साथ मिलकर अपने राज्य के कल्याण का विचार करना चाहिए।[10] प्रस्तुत अंश से स्पष्ट है कि मन्त्री एवं अमात्य राजा को राजकीय कार्यों के सम्पादन में सहायता करते थे।

मन्त्रियों एवं अमात्यों की नियुक्ति हेतु कौटिल्य ने उपधा परीक्षाओं की व्यवस्था दी है। इसके साथ-साथ उनके अन्य नैतिक गुणों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।[11]

मनुस्मृति में राज्य संस्था के लिए अमात्यों के महत्व का निदर्शन करते हुए कहा गया है कि दण्ड शक्ति का प्रयोग उन्हीं के द्वारा किया जाता है। अमात्य के गुणों का उल्लेख करते हुए मनु कहते हैं कि उन्हें शुचि, प्राज्ञ एवं सुपरीक्षित होना चाहिए।[12] शुक्रनीतिसार में राजा के सहायों के उपेक्षित गुणों का उल्लेख मिलता है। ये सहाय सम्भवत: अमात्य थे। उनमें राजा के प्रति भक्ति, सदाचारिता, आलस्यहीनता, मृदुभाषिता, कार्यदक्षता एवं दृढ़ता जैसे गुणों का समावेश अपेक्षित बताया गया है। शुक्र के अनुसार यदि राजा कुमार्ग पर चलने लगे तो अपनी बुद्धि द्वारा उसे सन्मार्ग पर लाने की क्षमता उसमें होनी चाहिए।[13]

3. जनपद या राष्ट्र

राज्य के तीसरे अंग के रूप में जनपद का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। ऋग्वेद में सर्वप्रथम राष्ट्र शब्द का उल्लेख मिलता है। इसमें वरुण देवता को राष्ट्रों का स्वामी बताया गया है। अथर्ववेद में पृथिवी को माता कहा गया है। उसका आह्वान करते हुए उससे राष्ट्र को बल एवं दीप्ति देने की प्रार्थना की गयी है। प्रतीत होता है कि वैदिक साहित्य में उल्लिखित 'राष्ट्र' शब्द भू-भाग का बोधक है। जनपद शब्द का अर्थ जनजातीय बस्ती से प्रतीत होता है। 'अर्थशास्त्र में परिभाषित जनपद शब्द से यह संकेत मिलता है कि इसमें भूभाग और जनसंख्या दोनों का समावेश है।[14] कृषि योग्य उर्वरा भूमि, परिश्रमी कृषक, निम्न वर्ण के लोगों की अधिकता तथा राजा के प्रति लोगों की निष्ठा आदि श्रेष्ठ जनपद के आधार माने गए हैं। मनुस्मृति में उल्लेख है कि राजा को ऐसे देश में निवास करना चाहिए जहाँ पानी न जमा रहता हो, प्रचुर अन्न उत्पन्न होता हो, वनस्पतियों के कारण जो क्षेत्र सुन्दर हो, जहाँ के सामन्त अधिकार में आ गए हों एवं जहाँ जीविका के साधन सरलता से प्राप्त हो सकें।[15]

कामन्दक के अनुसार राष्ट्र से ही राज्य के समस्त अंगों का उद्‌भव होता है अत: राजा का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र की संवृद्धि हेतु समस्त सम्भव प्रयत्न करे। प्रस्तुत सन्दर्भ में कामन्दक के विचार उदाहरणीय हैं।

'राजा के राष्ट्र की समृद्धि इसकी मिट्टी के गुणों पर निर्भर रहती है। राष्ट्र समृद्धि से राजा की समृद्धि होती है, अत: राजा को चाहिए कि वह समृद्धि के लिए अच्छे गुणों से युक्त ऐसी भूमि का चुनाव करे, जिसमें प्रचुर अन्न उपजे, जहाँ खनिज हों, जहाँ व्यापार हो सके, खानों तथा अन्य वस्तुओं की भरमार हो, जहाँ पशुपालन हो सके, प्रचुर जल हो, जहाँ सुसंस्कृत व्यक्ति रहते हों, जो सुन्दर हो, जहाँ जंगल हों, हाथी हों, जहाँ जल-स्थल के मार्ग हों, जहाँ केवल वर्षा के जल पर निर्भर न रहना पड़े।''[16]

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राकृतिक दृष्टि से प्रत्येक जनपद में विविध रूपा भूमि होती थी। इनमें उर्वरा भूमि का महत्व अधिक होना स्वाभाविक है। इसी कारण राष्ट्र की तत्कालीन मान्यता में राजशास्त्र विचारकों ने उत्तम भूमि पर विशेष बल दिया है।

4. दुर्ग

प्राचीन युद्ध परम्परा तथा उत्तर भारत की भौगोलिक स्थिति के कारण राज्य में दुर्गों का महत्व था। कौटिल्य ने राज्य के चौथे अंग के रूप में दुर्ग का उल्लेख किया है जब कि मनु ने तीसरे अंग के रूप में दुर्ग के स्थान पर 'पुर' शब्द का उल्लेख किया है। 'दुर्ग' से तात्पर्य किले से है। जब कि 'पुर' के पर्याय के रूप में दुर्ग को किलाबन्द राजधानी का बोधक माना जा सकता है। वस्तुत: किसी भी राज्य में उसकी राजधानी का सर्वाधिक महत्व होता है अत: दुर्ग से रक्षित राजधानी का अतिशय महत्त्व है। मनु के अनुसार दुर्ग में स्थित एक धनुर्धारी एक सौ धनुर्धरों को तथा सौ धनुर्धर एक सहस्र धनुर्धरों को मार सकते हैं।[17]

याज्ञवल्क्य के अनुसार दुर्ग की स्थिति से राजा की सुरक्षा तथा प्रजा एवं कोष की रक्षा होती है।[18]

कौटिल्य ने चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया है :

1. औदक दुर्ग (जल से सुरक्षित अर्थात् जिसके चारों ओर जल हो),
2. पार्वत दुर्ग (पहाड़ी पर निर्मित दुर्ग),
3. धान्वन दुर्ग (मरुस्थलों अथवा अनुर्वर भूमि पर बनाया गया दुर्ग),
4. वन दुर्ग (जंगलों में निर्मित दुर्ग)।

देश की भौगोलिक स्थिति को देखते हुए सम्पूर्ण क्षेत्र की सुरक्षा हेतु प्रस्तुत चार प्रकार के दुर्गों का विधान कौटिल्य ने किया है। उन्होंने दुर्गों के निर्माण एवं उनमें से किसी एक में राजधानी बनाने हेतु विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। राजधानी को राज्य की सम्पत्ति का दर्पण माना गया है।

5. कोष

प्रत्येक राज्य का समुचित संचालन समृद्धकोष द्वारा ही सम्भव है। कौटिल्य के अनुसार राज्य के सारे व्यापार कोष पर निर्भर रहते हैं अत: राजा को चाहिए कि वह कोष को प्रथम वरीयता दे।[19] गौतम के अनुसार कोष राज्य के छः अंगों का आधार है। कामन्दक ने राज्य को कोष के अधीन माना है।

कौटिल्य के अनुसार यदि राजकोष रिक्त हो एवं आकस्मिक विपत्ति आ जाए तो राजा को कृषकों, व्यापारियों, मद्य विक्रेताओं, वेश्याओं, सुअर विक्रय करने वालों, अण्डा, पशु आदि रखने वालों से विशिष्ट याचना करनी चाहिए। धनिकों से यथासामर्थ्य सुवर्ण देने का अनुरोध करना चाहिए। सम्पन्न जनों को इसके बदले राजदरबार में कोई उच्च पद या सम्मान देना चाहिए। अवसर के अनुकूल कोष की पूर्णता हेतु कौटिल्य ने अनेक उपायों का विस्तृत विवरण दिया है।

कोष की समृद्धि के प्रमुख तीन साधन माने गए हैं :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

1. उपज पर राजा का भाग,
2. चुंगी द्वारा अर्जित आय,
3. दण्ड से प्राप्त धन।

भूमि की उपज के अन्तर्गत न केवल कृषि सम्बन्धी आय समाहित है वरन् भूगर्भ से प्राप्त कोयला, रत्न आदि भी सम्मिलित किए जा सकते हैं। चुंगी के लिए 'शुल्क' शब्द प्रचलित था। शुल्क के दो प्रकार थे :

1. स्थल मार्ग द्वारा ले जाए जाने वाले सामानों पर लगने वाला,
2. जल मार्ग द्वारा ले जाए जाने वाले सामानों पर लगने वाला।

विविध समयों पर इनकी राशि में परिवर्तन होते रहते थे। राजकोष में संग्रहीत धन प्रजा के कल्याण एवं राज्य पर पड़ने वाले किसी भी प्रकार के संकट के लिए उपयोगी एवं आवश्यक था। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि कोष पर राज्य के सभी अंग आधारित हैं।

6. बल या सेना

प्रत्येक राज्य की सुरक्षा तथा राज्य सीमा का विस्तार समृद्ध कोष के माध्यम से रखी गयी शक्ति सम्पन्न सेना पर आधारित होता है। ऋग्वेद में सेना, अस्त्र-शस्त्रों, युद्धों आदि का विवरण मिलता है। वैदिक राजतंत्र में सेनानी की महत्वपूर्ण भूमिका के उल्लेख मिलते हैं। हाथियों, अश्वों, रथों एवं पैदल सैनिकों से युक्त सेना को चतुरंगिणी कहा गया है। कामन्दक ने छः प्रकार के बल का उल्लेख किया है। जिसमें हाथी, अश्व रथ एवं पदाति सेना के अतिरिक्त मन्त्र (नीति) एवं कोष का विवेचन किया गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णित छः बलों में मन्त्र के स्थान पर आवागमन के मार्ग का उल्लेख मिलता है।

प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्र चिन्तकों ने सेनाओं के निम्न छः प्रकार बताए हैं :

1. मौल सेना (वंश परम्परानुगत अर्थात् उत्तराधिकार में प्राप्त सेना) इसमें ऐसे सैनिक रहते थे जिनके पूर्वजों को उनकी सैनिक सेवाओं के बदले करमुक्त भूमिखण्ड प्राप्त हुए थे।
2. भृत या भृतक सेना (वेतन पर रखे गए सैनिक)।
3. श्रेणी सेना (व्यापारिक संगठनों की सेनाएं जो समय पर राजा की सहायता करती थीं।)
4. आटविक सेना अथवा जंगली जातियों की सेना।
5. मित्र सेना (मित्र राज्यों तथा सामन्त शासकों की सेना)।
6. अमित्र सेना (वह सेना जो पहले शत्रुपक्ष की थी, जिस पर राजा ने विजय प्राप्त कर अपनी सेना का अंग बना लिया हो।)

प्रस्तुत छः प्रकार की सेनाओं में प्रथम तीन प्रकार की सेनाएं अधिक विश्वसनीय होती हैं। कौटिल्य ने मौल सेना की अतिशय प्रशंसा की है। आटविक सेना में निषाद, म्लेच्छ तथा अन्य बर्बर जातियों के लोग रहते थे। वे शक्ति सम्पन्न थे पर उन पर पूर्णतया विश्वास कर पाना कठिन था। इसी प्रकार अमित्र सेना की विश्वसनीयता भी सन्देहास्पद थी। कतिपय प्रमुख राजवंशों की शासन पद्धतियों के अन्तर्गत उनकी सेना का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

7. मित्र

प्राचीन भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व विद्यमान था। अतः प्रजा के कल्याण, अपने साम्राज्य की सुरक्षा एवं राज्य विस्तार हेतु मित्र राज्यों की विशिष्ट उपयोगिता थी। कौटिल्य ने मित्रलाभ को श्रेयस्कर बताया है। मनु के अनुसार – राजसोना एवं भूमि पाकर उतना समृद्ध नहीं होता जितना अटल मित्र पाकर।[20] शान्तिपर्व में मित्रों के चार प्रकार के उल्लेख हैं :

1. समान ध्येय वाले,
2. शरण एवं सुरक्षा चाहने वाले,
3. स्वभाव से ही जो सुहृद हैं,
4. कृत्रिम मित्र (जो प्राप्त किए जाते हैं अर्थात् बलपूर्वक बनाए जाते हैं।)

कामन्दक[21] ने निम्न चार प्रकार के मित्रों का विवरण दिया है :

1. औरस अर्थात् जन्म जात (यथा – माता-पिता, नाना, नानी आदि),
2. कृत सम्बन्ध (विवाह सम्बन्ध से उत्पन्न),
3. वंश क्रमागत (पिता के मित्र),
4. रक्षित (अर्थात् विपत्तियों में जिनकी रक्षा की गयी हो।)

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय राजतन्त्र विचारकों की सप्ताङ्ग राज्य की कल्पना उनकी उन्नत मेधा एवं राज्य के व्यावहारिक रूप को दृष्टिगत रखते हुए की गयी थी। सातों अंगों की उपयोगिता उनके पारस्परिक गहन सम्बन्धों पर आधारित थी। सभी अंग परस्पर पूरक एवं अन्योन्याश्रित थे।

पाद टिप्पणियाँ

1. एवाम्यमात्य जनपद दुर्ग कोष दण्ड मित्राणि प्रकृतयः।
   - अर्थशास्त्र 6.1
2. एवाम्यमात्य सुह्रत्कोश राष्ट्रदुर्गबलानि च।
   सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं तत्र मूर्धा नृपः स्मृतः।।
   दृगमात्यः सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोशो बलं मनः।
   हस्तौ पादौ राष्ट्रौ राज्याङ्गानि स्मृतानि हिं।।
   शुक्रनीतिसार, 1.61.62
3. राम शरण शर्मा, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ० 34।
4. असंमोहाय मर्त्यानामर्थ संरक्षणाय च।
   मर्यादा स्थापिता लोके दण्ड संज्ञा विशांपते।।
   - शान्तिपर्व, 15.10
5. दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति।
   दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः।।
   - वही, 15.2
6. महाभारत, शान्तिपर्व 69.25।
7. अर्थशास्त्र, 6.1।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

8. गुरुन्मात्यांश्चैव नातिजीवेत्।
9. रामशरण शर्मा, पृ॰ 34।
10. रामशरण शर्मा, वही, पृ॰ 36।
11. विस्तृत विवरण इसी पुस्तक के अध्याय - 5 'मन्त्रिपरिषद्' के अन्तर्गत दिया गया है।
12. अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्रज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्वसमाहर्तृन् अमात्यान्सुपरीक्षितान्।।
मनुस्मृति, 7.60
13. शुक्रनीतिसार, 2.8.9।
14. रामशरण शर्मा, वही, पृ॰ 36।
15. मनु, 7.69, विवरण हेतु द्रष्टव्य पाण्डुरंग वामन काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-2 (अर्जुन चौबे काश्यप का अनुवाद), पृ॰ 639।
16. पाण्डुरंग वामन काणे, वही पृ॰ 639।
17. मनुस्मृति 7.74।
18. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.321।
19. कोशमूला: कोशपूर्वा: सर्वारम्भा:। तस्मात्पूर्वं कोशमवेक्षेत।
–कौटिल्य, 2.2
20. मनुस्मृति, 7.208।
21. कामन्दक, 4.74।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

5

मन्त्रिपरिषद

राज्य व्यवस्था के सुचारू रूप से संचालन हेतु राजा को सुयोग्य परामर्शदाताओं एवं राजकीय कार्यों को व्यावहारिक रूप देने के लिए कर्त्तव्यनिष्ठ अधिकारियों की आवश्यकता रही है। इसके लिए प्राचीन भारतीय चिन्तकों के राज्य के दूसरे अंग के रूप में अमात्य का उल्लेख किया है। अमात्यों के साथ ही मन्त्रियों एवं सचिवों का उल्लेख मिलता है। कहीं-कहीं ये तीनों एक ही पद के अधिकारी के रूप में उल्लिखित हैं, किन्तु कहीं कहीं इनमें स्पष्ट रूप से अन्तर मिलता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में अमात्य का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि 'राजा को अपने गुरूजनों एवं अमात्यों से बढ़कर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत नहीं करना चाहिए।[1]

ऐतरेय ब्राह्मण में 'सचिव' शब्द का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इन्द्र ने मरुतों को अपने सचिवों अर्थात् सहायकों के रूप में माना। उत्तर वैदिक साहित्य में राज्याभिषेक की प्रक्रिया में रत्नियों का उल्लेख मिलता है। इनमें पुरोहित का स्थान सर्वोच्च प्रतीत होता है। वह देवता की अनुकम्पा प्राप्त कराने का माध्यम था। संग्रहीता एवं भागदुघ राजकीय करों के संग्राहक एवं संचेता थे। अन्य रत्नी भी थे। रत्नियों का मन्त्री अथवा मन्त्रिपरिषद् के रूप में उल्लेख नहीं है। परन्तु उनके कार्यों एवं कालान्तर के मन्त्रियों के कार्यों में समानता परिलक्षित होती है।

जातकों में अमात्यों की श्रेष्ठता एवं उनके कार्यों का विस्तृत विवरण मिलता है। अमात्य राजकीय समस्याओं के निवारण हेतु समुचित सुझाव देते थे। वे राजकीय कल्याण के लिए उपयोगी उपायों को कार्य रूप में परिणत करने में सिद्धहस्त होते थे। समय-समय पर उनकी राजा से गुप्त मन्त्रणा होती थी। सेनापति, भाण्डागारिक (कोषाध्यक्ष), रज्जुक (भूमिमापक) आदि अमात्य होते थे।

रामायण में मन्त्री एवं मन्त्रिमण्डल का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। बालकाण्ड (7, 2-3) में उल्लेख है कि राजा दशरथ के कर्त्तव्यनिष्ठ एवं विश्वसनीय 8 मन्त्री थे। मन्त्री पद वंशानुक्रमिक था। पुरोहित मन्त्रिपरिषद के सदस्यों में सर्वोच्च था। राम के वनगमन तथा दशरथ के निधन पर मन्त्रियों ने भरत को बुलाया तथा राजा बनने के लिए प्रेरित किया। राजपद अस्वीकार करने पर वे भरत के साथ राम से परामर्श करने चित्रकूट गए। जब चित्रकूट में भरत राम से मिले तब राम ने भरत से पूछा था :

'हे भरत ! क्या तुमने अपने समान पराक्रमी, विश्वसनीय, इन्द्रियजयी, कुलीन, अभिप्राय को तुरन्त समझने वाले मन्त्रियों की नियुक्ति की है।'[2]

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रस्तुत अंश से मंत्री के लिए अपेक्षित गुणों पर प्रकाश पड़ता है। इससे भी स्पष्ट होता है कि नया राजा अपने राज्यकाल में कुछ नए मन्त्रियों की भी नियुक्ति करता था।

युद्धकाण्ड में राम के लंका पर आक्रमण से पूर्व रावण ने अपने मन्त्रियों से मन्त्रणा की थी।

महाभारत के अनुसार राज्य के संवर्द्धन हेतु मन्त्रियों की मन्त्रणा का विशेष महत्व था।[3] शान्तिपर्व में उल्लेख है कि राजा तीन मन्त्रियों के विमर्शों को सुनता था। उनको समझकर उन तीनों के मत तथा अपने मत को विद्वान गुरू ब्राह्मण के समक्ष कहता था। वह गुरु सभी मतों का सम्यक् विवेचन करके जो सिद्धान्त एक मत से निर्णय करता था, उस मन्त्र-मार्ग पर राजा आचरण करता था।[4]

महाभारत के अनुसार राजा अपने मन्त्रियों पर उतना ही निर्भर है जितना प्राणिमात्र पर्जन्य (वर्षा करने वाले) पर, ब्राह्मण वेदों पर और स्त्रियां अपने पतियों पर। महाभारत में राजा के 37 अमात्यों का विवरण मिलता है। इनमें 4 विद्वान ब्राह्मण, 8 बलिष्ठ क्षत्रिय, 21 समृद्ध वैश्य, विनीत एवं पवित्र 3 शूद्र तथा सर्वगुणसम्पन्न 1 सूत होना चाहिए। वे सभी निर्भीक होकर मत देने वाले, ईर्ष्या रहित, श्रुति एवं स्मृति के ज्ञाता, विनीत, समदर्शी, वस्तु-स्थिति के विवेचन में समर्थ लोभरहित तथा सभी व्यसनों से मुक्त होने चाहिए।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मन्त्री एवं मन्त्रिमण्डल से सम्बन्धित विस्तृत विवरण मिलता है। अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि जिस प्रकार एक पहिए से रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार मन्त्रियों की सहायता के बिना अकेले राजा से राज्य नहीं चल सकता। उनके अनुसार कोई भी राजकीय कार्य करने से पूर्व राजा को मंत्रणा कर लेनी चाहिए (मन्त्रपूर्वा: सर्वारम्भा:)। मन्त्रणा गुप्त रहनी चाहिए। इसके लिए मन्त्रणा एकान्त में की जानी चाहिए। शुक, सारिका एवं खानों से भी मन्त्र भेद का भय होता है। अत: खुले स्थान पर अथवा वृक्ष के नीचे मन्त्रणा नहीं करनी चाहिए। कौटिल्य ने इस सम्बन्ध में अनेक सावधानियों का विवरण प्रस्तुत किया है। वे प्राय: तीन या चार मन्त्रियों से मन्त्रणा को उचित मानते हैं। एक मन्त्री से मन्त्रणा करने पर वह निरंकुश हो सकता है। दो मन्त्रियों से मन्त्रणा करने पर वे दोनों मिलकर राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र कर सकते हैं। चार मन्त्रियों से अधिक से मन्त्रणा करने पर मन्त्र गुप्ति नहीं रह पाती। अर्थशास्त्र में मन्त्रणा के निम्न पाँच अंग बताए गए हैं :[5]

1. कार्य के प्रारम्भ करने का उपाय,
2. पुरुष एवं साधन का आयोजन,
3. देश काल का निश्चय,
4. विपत्तियों से बचाव,
5. कार्य की सिद्धि।

राजा को मन्त्रियों के मतों तथा युक्तियों को सुनना चाहिए तथा यथाशीघ्र मन्त्रणा लेनी चाहिए। इससे समयोचित निर्णय लिया जा सकता है। कौटिल्य ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निर्धारित मन्त्रियों की संख्या का उल्लेख करते हुए अपना मत दिया है कि आवश्यकता के अनुसार मन्त्रिये की संख्या निर्धारित की जानी चाहिए। वे मन्त्री को राजा के लिए चक्षु के समान महत्वपूर्ण मानते हैं। इसके लिए अर्थशास्त्र में इन्द्र का उदाहरण मिलता है। इन्द्र की मन्त्रिपरिषद् में ए

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हजार ऋषि थे। इस कारण दो नेत्रों वाले होने पर भी इन्द्र को सहस्राक्ष कहा जाता था।[6] कौटिल्य के विवरण से विदित होता है कि कुछ अमात्यों की मन्त्रिपरिषद् बनती थी। उनकी योग्यता प्रमाणित हो जाने पर भी सम्भवत: उन्हें मन्त्रिपरिषद में लिया जाता था। मन्त्रियों में प्रधान का वेतन 48,000 पण वार्षिक था। मन्त्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों का वेतन 12,000 पण वार्षिक था। प्रतीत होता है कि मन्त्रिपरिषद् के सदस्य मन्त्रियों के अतिरिक्त लोग भी होते थे। अर्थशास्त्र में चार प्रकार की उपधा परीक्षाओं का उल्लेख है – धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा, भयोपधा। जो अमात्य पूर्णतया धार्मिक हों, जो धन के लोभ से वशीभूत न हों, काम अथवा वासना का प्रभाव जिन पर न पड़े और जिन्हें भयभीत न किया जा सके उन्हीं को मन्त्री नियुक्त किया जाना चाहिए। उनमें सत्यता एवं विश्वासपात्रता का गुण भी अपेक्षित था। आदर्श मन्त्री देश का ही निवासी, कुलीन, प्रतिष्ठित, कलाकुशल, दूरदर्शी, समझदार, मेधावी, निर्भीक, श्रेष्ठवक्ता, उत्साह एवं प्रताप से परिपूर्ण, धैर्यवान, पवित्र, विनयशील, राजा के प्रति अटूट श्रद्धावान, चरित्र, बल, स्वास्थ्य एवं तेजस्विता से युक्त, हठवादिता एवं चंचलता से दूर, स्नेहवान तथा ईर्ष्यारहित होना चाहिए।[7]

मन्त्री, राजा एवं उसके शत्रुओं के सम्बन्ध में विचार करते थे। वे नए कार्यों को आरम्भ करते थे। प्रारम्भ हुए कार्यों को पूर्ण करते थे, सम्पन्न हुए कार्यों को संवारते थे तथा राजकीय आज्ञा को पूर्ण कराते थे। समीप के मन्त्रियों से राजा साक्षात् परामर्श करता था। दूरस्थ मन्त्रियों से पत्र द्वारा उनका मत जान लेता था। आवश्यकता पड़ने पर बहुमत के आधार पर राजा निर्णय लेता था। कौटिल्य ने मन्त्र के महत्व को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है :

'एक छोड़ा गया तीर किसी को मार सकता है या किसी को भी नहीं मार सकता अर्थात् चूक सकता है, किन्तु विज्ञ द्वारा निर्णीत कोई योजना उनको भी नष्ट कर सकती है जिनका अभी बीजारोपण मात्र हुआ है।[8]

अशोक के धर्मलेखों में 'परिसा' (परिषद्) शब्द का उल्लेख मिलता है। इसका अर्थ मन्त्रिपरिषद् किया जा सकता है। तीसरे एवं छठे शिलालेखों से परिषद् की कार्य प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है। तृतीय शिलालेख के अनुसार परिषद के निश्चय लिपिबद्ध करके स्थानीय कर्मचारियों द्वारा प्रजा को समझाया जाये। छठे शिलालेख से ज्ञात होता है कि राजा के मौखिक आदेशों एवं आवश्यक विषयों पर शीघ्रता से किए गए विभागाध्यक्षों (अमात्यों) के निर्णयों पर परिषद् पुनर्विचार कर सकती थी। परिषद के अधिकार व्यापक थे। उसके कहने पर राजा अपने आदेशों पर पुनर्विचार करने को बाध्य होते थे।[9]

शुंगों के इतिहास पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि राजा की परिषद् के अतिरिक्त प्रान्तीय राज्यपालों की भी परिषदें होती थीं। युवराज अग्निमित्र की प्रान्तीय राजधानी में मन्त्रिपरिषद् थी जो राजकीय कार्यों में उसकी सहायता करती थी। मालविकाग्निमित्रम् से ज्ञात होता है कि युवराज की अनुपस्थिति में भी मन्त्रिपरिषद की सभाएं होती थीं। उनमें लिए गए निर्णय युवराज के पास भेज दिए जाते थे।

रुद्रदामन के जूनागढ़लेख में दो प्रकार के सचिवों का उल्लेख मिलता है :
1. मतिसचिव, 2. कर्मसचिव।

रुद्रदामन के राज्यकाल में सुदर्शन झील का बाँध टूट गया था। जन हित में इसका जीर्णोद्धार

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आवश्यक था। इसके लिए बहुत अधिक धन की आवश्यकता थी। राजकोष की सम्पत्ति को दृष्टिगत रखते हुए मतिसचिवों तथा कर्म सचिवों ने इसके पुनर्निर्माण का विरोध किया था। अमर कोष में भी मति सचिव एवं कर्म सचिव के उल्लेख मिलते हैं। गुप्तकालीन लेखों से मन्त्रिपरिषदों के विषय में जानकारी नहीं मिलती। कुछ मन्त्रियों के नामों का उल्लेख मिलता है। समुद्रगुप्त का संधिविग्रहिक (शान्ति एवं युद्ध का मन्त्री) हरिषेण 'महावलाधिकृत' अर्थात् महासेनापति भी था। उसे यह पद वंशानुगत रूप में प्राप्त हुआ था। समुद्रगुप्त के प्रयागस्तम्भलेख का यह लेखक संस्कृत साहित्य का उद्‌भट विद्वान था। इस प्रकार उसमें विद्या एवं पराक्रम का अद्‌भुद् समन्वय था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि गुहालेख के अनुसार उसका मन्त्री वीरसेन शाब रौव धर्मानुयायी था। उसे यह पद (अन्वयप्राप्तसाचिव्यः) वंशानुगत रूप में प्राप्त हुआ था। राजा के साथ सैन्य अभियान में वह उसके साथ गया था। मंत्रियों की नियुक्ति में वंशपरम्परा का महत्व अनेक राजाओं के राज्यकाल में देखने को मिलता है। 482 ई० में परिव्राजक राज्य का मन्त्री सूर्यदत्त था। 28 वर्ष के बाद उसका पुत्र विभुदत्त मन्त्री पद पर था। जेजाकभुक्ति के चन्देल शासकों धंश, गण्ड, विद्याधर, विजयपाल, देववर्मन, कीर्तिवर्मन, सल्लक्षणवर्मन, जयवर्मन आदि के राज्यकाल में एक ही वंश की 5 पीढ़ियों ने मन्त्री पद पर अपने दायित्व का निर्वाह किया। इनके नाम क्रमशः प्रभास, शिवनाग, महीपाल, अनन्त एवं गदाधर थे।

आठवीं शताब्दी ई० के ग्रन्थ शुक्रनीतिसार में तत्कालीन एवं पूर्ववर्ती मन्त्रि संस्था के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इसके अनुसार मन्त्री के दो सहायक (दर्शक) होते थे। ये सहायक उन्नति करके मन्त्री हो सकते थे। मन्त्री अपने विभाग के निर्णयों को लिखकर अन्त में अपनी स्वीकृति की सूचना देता था। यह लेख राजा की स्वीकृति हेतु भेजा जाता था। अन्त में राजा के आदेश से प्रकाशित कर इसे व्यवहार में लाया जाता था। शुक्रनीतिसार में मन्त्रिपरिषद् के लिए 10 मन्त्रियों की संख्या निर्धारित की गयी है। ये निम्न थे :

1. पुरोहित, 2. प्रतिनिधि, 3. प्रधानमन्त्री, 4. सचिव, 5. मन्त्री, 6. प्राड्‌विवाक, 7. पण्डित, 8. सुमन्त्र, 9. अमात्य, 10. दूत।

इनमें प्रतिनिधि राजा की अनुपस्थिति में उसके स्थान पर कार्य करता था। सचिव युद्धमन्त्री था। मन्त्री परराष्ट्रमन्त्री अथवा विदेशमन्त्री था। प्राड्‌विवाक न्यायविभाग से सम्बन्धित न्यायाधीश था। पण्डित नामक मन्त्री अत्यन्त विद्वान होते थे वे राष्ट्र को सदाचार के मार्ग पर ले जाने के लिए न केवल योजनाएं बनाते वरन् उन्हें कार्यान्वित करते थे। सम्भवतः वे प्राचीन परिपाटियों में आए विकारों में समयोचित संशोधन करते थे। सुमन्त्र कोषाध्यक्ष था तथा अमात्य राजकीय आय से सम्बन्धित था। पुरोहित प्रधानमन्त्री (सर्वदर्शी) तथा दूत के कार्य सर्वथा स्पष्ट हैं। शुक्र के अनुसार – 'आदर्श पुरोहित की घुड़की ही राजा को सन्मार्ग पर लाने हेतु पर्याप्त समझी जाती थी।'[10]

शुक्र के अनुसार मन्त्रि पद के लिए योग्यता एवं विश्वासपात्रता प्रमुख हैं, चाहे वह चारों वर्णों में से किसी से भी सम्बन्धित क्यों न हो। यद्यपि अधिकांश स्मृतियों में मन्त्रियों के चयन में ब्राह्मण वर्ण को प्रधानता दी गयी है। इनकी नियुक्ति राजा स्वयं करते थे। मन्त्री राज्य के स्तम्भ माने जाते थे। उनका कार्य राजा को कुमार्ग पर जाने से रोकना भी था। इतिहास में कुछ ऐसे

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

उल्लेख मिलते हैं जब मन्त्रियों ने राजा के निर्वाचन में भूमिका निभाई। ह्वेनसांग के यात्रा विवरण से ज्ञात होता है कि मौखरि वंश के अन्तिम राजा के अचानक निःसन्तान मरने पर मन्त्रियों ने हर्षवर्द्धन को मौखरि राज सिंहासन हेतु चुना था। कश्मीर का राजा अजयपीड, मन्त्रियों के निर्णय से राजपद से हटाया गया था।

व्यावहारिक रूप में विभिन्न युगों में अनेक ऐसे मन्त्रियों के उल्लेख प्राप्य हैं जो राज्य के संवर्द्धन हेतु समर्पित थे। अजातशत्रु के मन्त्री वस्सकार की लिच्छिवियों पर विजय प्राप्त करने में प्रमुख भूमिका थी। कोशल के शासक प्रसेनजित के दो मन्त्री मृगधर एवं श्रीवृद्ध उसके श्रेष्ठ परामर्शदाता थे। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय का मन्त्री नारायण राजविद्या में पारंगत कहा गया है।[11] उसे राजा के दाहिने हाथ के समान प्रिय कहा गया है।[12] यादव राजा कृष्ण का मन्त्री नागरस बुद्धि कौशल में निष्णात था।[13] यादव राजाओं के लेखों से उनके मन्त्रियों की योग्यता के अनेक उल्लेख मिलते हैं। 9वीं शती ई॰ के कश्मीर के इतिहास में अवन्तिवर्मा के मन्त्री सूर की योग्यता के सम्बन्ध में कल्हण की राजतरंगिणी से प्रकाश पड़ता है। उसने लिखा है कि ऐसे राजा और मन्त्री का अनुपम युग्म (जोड़ा) न तो देखा गया और न सुना गया। कश्मीर में मन्त्रियों को राजाणक की उपाधि दी गयी थी।[14] कल्हण की राजतरंगिणी से दसवीं शती ई॰ में कश्मीर में कुछ अयोग्य मन्त्रियों के प्रभुत्व में वृद्धि होने के उल्लेख मिलते हैं जिन्होंने अनेक राजाओं को पदच्युत किया तथा कुछ के प्राण ले लिए। ऐसे मन्त्रियों को राजमाता दिद्दा ने कुटुम्ब सहित मरवा दिया। कश्मीर के महाराज चक्रवर्द्धन ने अपनी प्रियतमा के भाई डोमों को मन्त्री बनाया था। दक्षिण भारत के अनेक लेखों में मन्त्रियों को 'महासामन्त' तथा 'महामण्डलेश्वर' की उपाधि से अलंकृत किया गया है। इससे उनकी राजनैतिक प्रतिष्ठा की पुष्टि होती है।

अनेक राजा अपने मन्त्रियों के प्रति तथा मन्त्री अपने राजाओं के प्रति अन्तिम समय तक समर्पित रहे। राजा जयसिंह रोग शय्या पर पड़े अपने मन्त्री के पास अन्तिम क्षण तक बैठे रहे। राजा जयापीड के बन्दी हो जाने पर उसके मन्त्री ने अपने प्राण त्याग दिए जिससे उसके फूले हुए शव का सहारा लेकर राजा नदी पार कर शत्रुओं से मुक्त हो सकें। होयसल वंशी राजा बल्लाल द्वितीय की मृत्यु हो जाने पर रानी के साथ-साथ उसके मन्त्री ने भी एक ऊँचे स्तम्भ से कूदकर अपने प्राण त्याग दिए थे।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि राजतन्त्र के प्रारम्भ के साथ ही सुयोग्य परामर्शदाताओं की आवश्यकता अनुभव की गयी होगी। प्रारम्भ में सम्भवतः सभा, समिति तथा रत्नियों के माध्यम से राजा इस आवश्यकता की पूर्ति करते रहे होंगे। समय की गति के साथ मन्त्रिपरिषद् संस्था का विकास हुआ। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र विचारकों ने इस सम्बन्ध में अपने मत प्रतिपादित किए। अनेक राजा इससे लाभान्वित हुए होंगे। आवश्यकतानुसार समय-समय पर मन्त्रियों का चयन किया गया। सुयोग्य मन्त्री अपने शासकों के लिए वरदान सिद्ध हुए तथा अयोग्य मन्त्रियों से राज्य को हानि हुई।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पाद टिप्पणियाँ

1. गुरूनमात्यांश्चैव नातिजीवेत् :
   पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास – 2, अर्जुन चौबे काश्यप का हिन्दी अनुवाद, पृ० 623।
2. कच्चिदात्मसमा: शूरा: श्रुतवन्तो जितेन्द्रिया।
   कुलीनाश्चैइङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिण:।।
   –अयोध्याकाण्ड।
3. 'मन्त्रिणां मन्त्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते।'
   –शान्ति पर्व 84.45।
4. शान्तिपर्व, 84.50-52, द्रष्टव्य राम जी उपाध्याय, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० 543।
5. अर्थशास्त्र 1/14।
6. 'इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषद्ऋषीणां सहस्रम्। तच्चक्ष: तस्मादिमं द्वयक्षं सहस्राक्षमाहु:। –वही, 1/14।
7. अर्थशास्त्र, 1/8
8. अर्थशास्त्र, 10/6
9. विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 128।
10. यत्कोपभीत्या राजापि धर्मनीनिरतो भवेत्।
    –शुक्र, 2.99।
11. पारगो राजविद्यानां कवि मुख्य: प्रियंवद:।
    –एपिग्रेफिया इण्डिका 4.60।
12. तस्य य: प्रतिहस्तोऽभूत्प्रियो दक्षिणहस्तवत्।
    –एपि० इण्डिका 4, पृ० 60।
13. अनेकराजनीतिशास्त्रोक्तविवेकवर्धितबुद्धिकौशल:।
    –इण्डियन एण्टीक्वेरी, 12.126।
14. राजतरंगिणी, 6.117 ; 5.127।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

6

कर व्यवस्था

प्रशासन को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए राज्य की आय होना आवश्यक है। वास्तव में राज्य की आय राज्य के स्थायित्व एवं सम्पन्नता का मूल आधार है। राज्य की आय के स्रोत के रूप में बलि, भाग, कर, शुल्क आदि शब्दों का प्रयोग प्राचीन भारतीय साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्रोतों में देखने को मिलता है। ऋग्वेद[1] में सामान्य लोगों के लिए 'बलिहृत' शब्द का उल्लेख मिलता है जिसका तात्पर्य राजा के लिए 'बलि' नामक कर लाने वाले से था। इस प्रकार ऋग्वैदिक युग में 'बलि' नामक कर के रूप में प्रजा से राजा की आय होती थी। प्रजा राजा के सम्मानार्थ स्वेच्छा से बलि देती थी। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से विदित होता है कि देवताओं को प्रसन्न करने हेतु अर्पित की जाने वाली भेंट को बलि कहा जाता था। इस धारणा को दृष्टिगत रखते हुए कहा जा सकता है कि वैदिक युग में प्रजा, राजा को सन्तुष्ट करने के लिए बलि देती रही होगी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक स्थान पर 'हरन्त्यस्मै विशो बलिम्' का उल्लेख मिलता है जिसका अर्थ राजा के लिए बलि लाना है। ऐतरेय ब्राह्मण में वैश्य को 'बलिकृत' (दूसरों को कर देने वाला) की संज्ञा दी गयी है। सम्भवतः वैदिक युग में सामान्य रूप से ब्राह्मण कर मुक्त रहे होंगे। क्षत्रियों का कार्य राष्ट्र की रक्षा करना होने के कारण तत्कालीन छोटे-छोटे राष्ट्रों में परस्पर युद्ध में ये क्षत्रिय महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे होंगे। सम्भव है वे भी अपनी महत्ता के कारण कर मुक्त रहे हों। इस प्रकार कर का प्रमुख भार वैश्यों पर ही रहा होगा। ऐतरेय ब्राह्मण में ही एक स्थान पर राजा के लिए 'विशामत्ता समजनि' शब्द का उल्लेख है जिसका अर्थ प्रजा का खाने वाला किया जा सकता है। प्रो॰ अल्तेकर के अनुसार विशामत्ता सम्बोधन से ज्ञात होता है कि राजा प्रजा से नियमित रूप से कर प्राप्त करते थे। इसी कर प्राप्ति के बल पर राजा अपने कर्मचारियों सहित ठाट-बाट से रहता था।[2] हापकिन्स ने 'विशामत्ता' के शाब्दिक अर्थ के आधार पर मत व्यक्त किया है कि वैदिक काल में कर व्यवस्था अतिशय कठोर थी। उनके अनुसार पुरोहितवर्ग राजा को प्रजा के शोषण के लिए प्रोत्साहित करता था।[3] ऋग्वेद[4] में उल्लेख है कि धनी लोगों को राजा वैसे ही खाता है जैसे अग्नि वन को। सम्भवतः वैदिक युग में सम्पन्न लोगों से राजा को विशेष धन मिलता था। इसी आधार पर ऋग्वेद में उपरिलिखित उपमा दी गयी है।

वैदिक रत्नियों में 'संग्रहीता' एवं 'भागधुक्' नामक पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं। 'संग्रहीता' शब्द के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह पदाधिकारी राजकीय करों का संग्रह करने वाला रहा होगा। 'भागधुक' नाम से भी ऐसा आभास होता है कि प्रजा द्वारा उत्पादित वस्तुओं में से

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वह कर के रूप में राजा का भाग लेता रहा होगा। वैदिक युग में राजकीय आय के प्रमुख साधन कृषि एवं पशुपालन थे। अथर्ववेद[5] के एक मंत्र में राजा द्वारा ग्राम के अश्वों एवं गायों में से 'भाग' (हिस्सा) लेने की कामना की गयी है। इससे यही स्पष्ट होता है कि पशुपालन से राजकीय आय होती थी। वैदिक युगीन भारत छोटे-छोटे अनेक राष्ट्रों में विभक्त था। अनेक जन-जातियाँ पुरू, यदु, अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु, भरत, त्रित्सु, संजय आदि अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती थीं। इन राष्ट्रों में समय-समय पर परस्पर संघर्ष होता रहता था। विजेता राजा पराजित राष्ट्र से सम्पदा तथा दास-दासियाँ आदि प्राप्त करता था। प्राय: पराजित राजा को अपनी रक्षा के लिए कर देना पड़ता था। वैदिक साहित्य में इसके लिए 'खण्डणी' शब्द का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार युद्धों से भी राजकीय आय होती थी।

रामायण[6] में भी 'बलि' शब्द का उल्लेख मिलता है जिसका तात्पर्य षष्ठ भाग से है। इसी ग्रंथ[7] में ही विवरण मिलता है कि मूल और फल पर जीविकोपार्जन करने वाला मुनि जो धर्म करता है उसका 1/4 भाग राजा का होता है। इसका आधार इस सिद्धान्त का प्रतिपादन था कि सभी को कर देना चाहिए। चूँकि मुनि के पास कर देने के लिए द्रव्य तो होता नहीं अत: कल्पना की गयी कि राजा उसके तप के पुण्य के चतुर्थांश का भागी होगा।

महाभारत के सभापर्व एवं शान्तिपर्व में राजकीय आय से सम्बन्धित वृहत् उल्लेख मिलते हैं। महाभारत[8] के अनुसार राजभक्त एवं राजा के विश्वासपात्र राजकीय कर्मचारियों की नियुक्ति आय-व्यय को लिपिबद्ध करने हेतु की जाती थी इन्हें गणक एवं लेखक कहा जाता था। ये राजकर्मचारी दिन के प्रथम प्रहर में भी अपना कार्य पूर्ण कर लेते थे। व्यापारियों से शुल्क ग्रहण करने हेतु शुल्कोपजीवी नामक कर्मचारी होते थे। कतिपय महत्वपूर्ण आय स्रोतों के लिए अमात्यों की नियुक्ति की जाती थी जिनमें खान, शुल्कतर (नदी पार करना) तथा लवण से सम्बन्धित अमात्य महत्वपूर्ण थे।[9] महाभारत के विवरणों के अनुसार राजकीय आय का एक महत्वपूर्ण साधन पराजित राजाओं की सम्पत्ति थी। इसके अतिरिक्त सम्राटों को विजय अभियान के समय प्रजा से अतुल धन मिलता था। यज्ञानुष्ठानों पर प्रजा उपहार रूप में राजा को धन देती थी। इस प्रकार के धनागम की संज्ञा प्रीत्यर्थबलि[10] थी। महाभारतीय मान्यता के अनुसार भूमि की उपज का छठा भाग राजा को बलि के रूप में प्राप्त होता था। अपराधियों को अर्थदण्ड देने से भी राजकीय आय होती थी। शास्त्रानुसार इस प्रकार का धनागम राजा का वेतन समझा जाता था। शान्तिपर्व में उल्लेख है कि जनता कोषरहित राजा की अवज्ञा करती है। राजलक्ष्मी राजा को सत्कार प्रदान करती है। उस युग में राजकीय आय के संरक्षण हेतु दो प्रकार के विधान बनाए गए थे :

1. कोष, जिसमें सुवर्ण, रत्न एवं राजकीय मुद्राएं संगृहीत की जाती थीं।
2. कोष्ठागार में विविध प्रकार के अनाज एवं वस्त्रों तथा अन्य सामग्रियों का संग्रह किया जाता था। निश्चय ही कोष्ठागार में अनेक प्रकोष्ठ होते रहे होंगे, क्योंकि अन्न, वस्त्र तथा अन्य वस्तुएं अलग-अलग रखी जाती रही होंगी।

कोष एवं कोष्ठागार को सदैव परिपूर्ण रखना राजनैतिक दृष्टि से आवश्यक था तथा ऐसा करना राजा का कर्त्तव्य समझा जाता था। उस युग में कोष तथा कोष्ठागार को परिपूर्ण करने के भी निश्चित नियम रहे होंगे। महाभारत[11] में उल्लेख है कि यदि राजा को कर में वृद्धि करने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

की आवश्यकता पड़े तो एकदम से अधिक कर नहीं बढ़ाना चाहिए, वरन् यह वृद्धि क्रमशः की जानी चाहिए। भीष्म ने बछड़े का उदाहरण देते हुए कहा है कि जैसे बछड़े को यदि समुचित मात्रा में गाय का दूध मिलता रहे तो वह बलवान बनता है और बड़ा होकर अधिक भार वहन करने में समर्थ होता है, लेकिन यदि गाय से अधिक दूध दुहकर बछड़े के लिए उचित से कम छोड़ा जाए तो वह दुर्बल और अक्षम हो जाता है। इसी प्रकार राष्ट्र के निवासियों से अधिक कर लेने पर वे निर्बल होने के कारण महान कार्य करने में अक्षम हो जाते हैं अतः राजा को कर के सम्बन्ध में वही नीति अपनानी चाहिए जो नीति बछड़े के सम्बन्ध में व्यवहृत होती है।

महाभारत के शान्तिपर्व[12] में भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए उल्लेख मिलता है कि जिस प्रकार मधुमक्खी या भौंरा पुष्प से बिना पुष्प को क्षति पहुँचाए, मधुपान करता है उसी प्रकार राजा को प्रजा से कर लेना चाहिए। गाय का दूध तो दुहा जाता है पर उसके थन नहीं काटे जाते। इसी तरह प्रजा से उचित कर लिया जाए, अधिक कर वसूल कर उसे दुखी न किया जाए। महाभारत[13] के अन्य स्थल पर राजा के लिए कहा गया है कि 'हे राजा, तुम माली के समान बनो, कोयला बनाने वाले के समान नहीं। ऐसा करने से तुम दीर्घ काल तक प्रजा का पालन करते हुए राज्य सुख का उपभोग कर सकोगे। यही तथ्य शुक्रनीति सार[14] में भी उल्लिखित है। तात्पर्य यही है कि आय के मूल स्रोत को नष्ट न करके समुचित मात्रा में राजा को उचित समय पर कर ग्रहण करना चाहिए। व्यापारी तथा शिल्पी वर्ग से कर ग्रहण करने के सम्बन्ध में महाभारत में वर्णन है कि व्यापारियों का पण्य पदार्थ पर कुल कितना खर्च आया है, इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए कर लगाना चाहिए।

जातक कथाओं के अनुशीलन से विदित होता है कि कर वसूल करने वाले 'बलिसाधक' या वलिपटिगाहक (बलिप्रतिग्राहक) कहे जाते थे। राजकीय आय का मुख्य साधन भूमिकर था। उत्पन्न की हुई वस्तुओं से प्राप्त राजा के भाग को रज्जोभाग कहा जाता था। कर वसूल करने में कठोरता के उदाहरण भी मिलते हैं। जातकों के अनुसार सन्तानविहीन लोगों की सम्पत्ति पर राजा का अधिकार होता था। संन्यास लेने वाले व्यक्ति की सम्पत्ति पर भी राजा का अधिकार हो जाता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजकीय आय से सम्बन्धित वृहत् वर्णन मिलते हैं। 'कोषामिसंहरणम्' अंश में उल्लिखित अंश के अनुसार बड़े या छोटे जनपदों से अन्न का तृतीय या चतुर्थांश राज्य कर के रूप में लिया जाना चाहिए। धान्यों का चौथा भाग, और वन में होने वाले अन्न, रूई, लाख, जूट, छाल, कपास, ऊन, रेशम, औषधि, गन्ध, पुष्प, फल, शाक, लकड़ी, बाँस, सूखा माँस आदि का छठा भाग राजकर के रूप में वसूल किया जाना चाहिए। हाथी दाँत और गाय आदि के चमड़े का अर्द्धभाग राजकर के रूप में लिए जाने का विधान कौटिल्य ने बनाया था।

सोना-चाँदी, हीरा, मणि, मोती, मूँगा, घोड़े और हाथी आदि व्यापारिक वस्तुओं पर उनके खर्च का 50वाँ भाग, सूत, कपड़ा, ताँबा, पीतल, काँसा, गंध , जड़ी-बूटी, और मदिरा पर 40वाँ भाग, गेहूँ, धान आदि अनाज, तेल घी, लोहा और बैलगाड़ियों पर 30वाँ भाग, काँच के व्यापारी तथा बड़े-बड़े कारीगरों पर 20वाँ भाग, छोटे-छोटे कारीगरों तथा दुरचरित्रा नारियों को घर में रखने वालों से 1/10 भाग तथा लकड़ी, बाँस, पत्थर, मिट्टी के बर्तन, पकवान तथा हरे शाक आदि पर 1/5 भाग कर लेने के विवरण मिलते हैं।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विशेष स्थिति में यथा राज्य पर आकस्मिक आपदा पड़ने पर राज्य, जनता से धन प्रदान करने के लिए याचना करता था। अर्थशास्त्र में इस प्रकार की याचना को 'प्रणय तथा महाभारत में प्रार्थना की संज्ञा दी गयी है। कौटिल्य[15] के अनुसार विपत्ति पड़ने पर राजा को चाहिए कि वह धनार्जन के लिए जनता के अन्धविश्वासों का उपयोग करे जैसे अपने गुप्तचरों द्वारा देवालयों की स्थापना कर वहाँ भेंट आदि चढ़ाने के लिए निवासियों को प्रेरित करे। लोगों को किसी कूप में दूर से ऐसा सर्प दिखावे जिसके बहुत से सिर हों, उद्यान में वृक्षों पर असमय फल-फूलों का आना दिखाकर जनता से धन प्राप्त करे।

परिस्थिति के अनुसार नियमित कर में पूर्ण या आंशिक छूट देने के उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलते हैं। उदाहरणतया यदि कोई व्यक्ति अपने उद्योग से बेकार भूमि को कृषि योग्य बनावे या सरोवर आदि का निर्माण करके सिंचाई द्वारा भूमि की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करे तो शासन उससे नाममात्र का कर लेकर भूमि दे और धीरे-धीरे उसे बढ़ाकर 4-5 वर्षों में सामान्य स्तर पर लावे।[16] कौटिल्य के मतानुसार राजा को चाहिए कि वह कृषकों को बीज, पशु एवं धन पहले से दे दें, जिसे कृषक सरलतापूर्वक कई भागों में लौटा सकते हों। इस प्रकार की कृपा को 'अनुग्रह' की संज्ञा दी गयी है। राजा को इस प्रकार 'अनुग्रह' एवं 'परिहार' (छूट) करना चाहिए जिससे कोष में अभिवृद्धि हो।[17]

अर्थशास्त्र में चुंगी के रूप में लिए जाने वाले शुल्क का विशद उल्लेख मिलता है। इस विवरण के अनुसार-शुल्काध्यक्ष नगर के मुख्य द्वार के निकट उत्तर या दक्षिण में शुल्कशाला का निर्माण कराये। इस भवन पर पताका लगी हो। शुल्क ग्रहण करने वाले 4 या 5 व्यक्ति विक्रय हेतु आए हुए माल के व्यापारियों से पूछकर यह लिखें – आप कौन हैं, कहाँ के रहने वाले हैं, कितना माल आपके पास है आपने अभिज्ञान मुद्रा कहाँ से प्राप्त की थी।[18] यदि सामान पर मुहर न लगी हो तो दुगुना शुल्क लिया जाए और यदि कूट मुहर (जाली मुहर) लगी हो तो आठ गुना। जिसकी मुहर टूट गयी हो उस सामान की शुल्क शाला में पड़े रहने का दण्ड दिया जाए।[19] अर्थशास्त्र[20] में पुङ्गी के अतिरिक्त उत्पादन कर, निष्क्राम्य कर (निर्यात कर) तथा प्रवेश्य कर (आयात कर) के भी उल्लेख मिलते हैं। विविध व्यवसायों पर राज्य का सीधा नियंत्रण रहता था। नमक, मदिरा, खनिज द्रव्य तथा वनों आदि पर राज्य का अधिकार होता था।

प्राचीन भारतीय साहित्यिक विवरणों में राजकीय आय सम्बन्धी विवेचन बिखरे हुए मिलते हैं। इन ग्रंथों में वर्णित अंशों के अनुसार राजकीय आय के प्रमुख साधन निम्न थे :

1. उपज पर राजा का भाग,
2. चुङ्गी,
3. दण्ड से प्राप्त धन।

मनुस्मृति, गौतम, विष्णुधर्मसूत्र, मानसोल्लास आदि ग्रन्थों में भूमि की उपज के क्रमशः 1/6, 1/8, 1/10, तथा 1/12 भाग का अधिकारी बताया गया है। बृहस्पति एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण में इन करों के उगाहने की दशाओं का वर्णन किया गया है। राजा 'शूक धान्य' (ऐसे धान्य या अनाज जिनमें टूड़हो, यथा जौ, गेहूँ आदि) का 1/6 भाग, 'शिम्बोधान्य' (ऐसे धान्य जिनके बीच में बीज हो या बीजकोश) का 1/8 भाग, वर्षों से न जोते गए खेत से उत्पन्न अन्न का 1/10

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

भाग, वर्षा ऋतु में उत्पन्न अन्न का 1/8 भाग एवं बसन्त ऋतु में उत्पन्न अन्न का 1/6 भाग लेता है।[21] मनुस्मृति (7/130), गौतम (10/25), विष्णु धर्मसूत्र (3/24), मानसोल्लास (2/3/163, पृ० 44) आदि में इस तरह के विवरण हैं कि राजा को चरवाहों द्वारा पालित पशुओं तथा महाजनी पर 1/50 भाग लेने का अधिकार था। इन्हीं ग्रन्थों के अनुसार राजा को पेड़ों, भाँस, मधु-घृत, चन्दन, औषधियों के पौधों (यथा गुडूची), रसों (नमक आदि) पुष्पों, जड़ों (यथा हल्दी आदि), फलों, पत्तियों (यथा ताम्बूल आदि), शाकों, घासों, खालों, बाँस की बनी वस्तुओं, मिट्टी के बर्तनों, प्रस्तर की वस्तुओं पर 1/6 भाग राजा को मिलता था।[22]

प्रस्तुत सन्दर्भ में ऊपर भूमिकर की चर्चा स्थान-स्थान पर की गयी है। यहाँ पर 'भू स्वामित्व' के विषय में उल्लेख करना अपेक्षित प्रतीत होता है। सैद्धान्तिक रूप से प्राचीन भारतीय मान्यता में राजा को ही अपने राज्य की सम्पूर्ण भूमि का स्वामी माना गया है पर प्राचीन साहित्यों तथा पुरातात्त्विक साक्ष्यों से विदित होता है कि यथार्थत: भूमि लोगों की निजी सम्पत्ति समझी जाती थी। मनु के अनुसार भूगर्भ की निधियों का स्वामी राजा है क्योंकि वह भूमि का भी अधिपति है।[23] अर्थशास्त्र के टीकाकार भट्टस्वामी ने भूमि और जलाशयों पर राजा के अधिकार का उल्लेख किया है।[24] ये विवरण समग्र भूमि पर राजा के स्वामित्व की पुष्टि करते हैं। इसके विपरीत अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे विदित होता है कि राजा एवं प्रजा दोनों के अधीन अपनी अलग-अलग भूमियां होती थीं। पूर्व मीमांसा में उल्लेख है कि कुछ यज्ञों के अन्त में राजा सर्वस्व दान करता था पर वह प्रजा की व्यक्तिगत भूमि दान में नहीं दे सकता था। वस्तुत: कतिपय यज्ञों में यह विधान है कि जिस व्यक्ति के कल्याण के लिए यज्ञ किया जाता है वह अपनी समस्त सम्पत्ति पुरोहित को दान कर देता है। यहाँ यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ऐसे यज्ञों का सम्पादन करने वाला राजा राज्य की समस्त भूमि का दान पुरोहित को कैसे कर सकता है। छठी शताब्दी ई० पू० से लेकर कालान्तर की सहस्राब्दियों का इतिहास इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व सभी युगों में विद्यमान रहा है। जैमिनि के अनुसार भूमि समान रूप से सब लोगों की है। बौद्ध धर्मानुयायी अनाथपिण्डक एवं आम्रपाली ने श्रावस्ती एवं वैशाली में बौद्ध संघ हेतु भूमि दान दी थी।

विभिन्न युगों में राजकीय आय के विषय में अनेक साहित्यिक विवरणों तथा लेखों से प्रकाश पड़ता है। छठी शताब्दी ई० पू० में सम्राट् बिम्बिसार को कोशल के राजा प्रसेनजित की बहिन कोशलदेवी से विवाह करने पर काशी का राज्य दहेज (नहाचुन्नमूल्य) के रूप में प्राप्त हुआ था। केवल काशी के राज्य से बिम्बिसार की वार्षिक आय एक लाख मुद्राएं थीं। जातकों में वर्णित है कि अनेक व्यापारिक मार्गों से व्यापारी लोग विविध वस्तुओं का व्यापार करते थे। इससे मार्गवर्त्ती राज्यों की विशेष आय होती थी। नन्द राजाओं के विषय में उनके लोभी होने तथा प्रजा पर अनियमित कर लगाने के उल्लेख मिलते हैं। यदि कौटिल्य को मौर्ययुग की विभूति माना जाए तो अर्थशास्त्र में राजकीय आय की जो विशद् विवेचना मिलती है, वह मौर्ययुगीन प्रथा का द्योतक होना चाहिए। अर्थशास्त्र के कुछ संदर्भों का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। मेगस्थनीज के विवरण से मौर्ययुगीन राजकीय आय पर प्रकाश पड़ता है। वस्तुत: मेगस्थनीज की कृति 'इण्डिका' तो अप्राप्य है किन्तु उसकी विषय सामग्री का उल्लेख कालान्तर के कई

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ग्रीक लेखकों के वृत्तान्तों में उपलब्ध है। उदाहरणतया वस्तुओं के विक्रय मूल्य का 1/10 भाग राजा को शुल्क रूप में प्राप्त होता था। जो व्यापारी इस कर को न देने की चेष्टा करते थे, उन्हें मृत्युदण्ड दिया जाता था। अलग-अलग प्रकार की वस्तुओं पर शुल्क की दर अलग-अलग थी। राजा के केश-स्नान के दिन प्रजा श्रेष्ठतम वस्तुएं उपहार स्वरूप प्रदान करती थी। प्रदर्शनी हेतु राजा को हंस, बत्तख, मुर्गी, कबूतर, चीता आदि जीवधारी उपहार स्वरूप प्राप्त होते थे।[25]

मौर्योत्तरकाल में राजकीय आय से सम्बन्धित उल्लेख उतने विस्तृत नहीं हैं। शुंगवंशी राजाओं के प्रशासन में उनकी एक मंत्रिपरिषद् का तो उल्लेख मिलता है पर कर व्यवस्था से सम्बन्धित विवरण उपलब्ध नहीं हैं। शकों के प्रशासन में राजकीय कोष के अधिकारियों के नाम कोष्ठागारिक, भाण्डागारिक तथा गंजवर आदि मिलते हैं। राजकीय आय के लिए बलि, शुल्क भाग आदि का विधान मिलता है। उज्जयिनी के शक राजा रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में 'विष्टि' तथा 'प्रणय' करों का उल्लेख है। विष्टि का अर्थ विद्वानों ने बेगार किया है। इसके मूल में यह धारणा थी कि जो निर्धन व्यक्ति नकद या अनाज के रूप में राज्य को कर देने में असमर्थ थे वे राजकीय कार्यों के सम्पादन में अपने परिश्रम से श्रम के रूप में राज्य को कुछ दे सकें। भारतीय धर्मशास्त्रों में उल्लेख मिलते हैं कि मास में एक या दो दिन राज्य के लिए लोगों से बिना वेतन दिए, काम लेना उचित समझा जाता था।[26] रुद्रदामन के उपर्युक्त लेख में इस बात का विशेष रूप से उल्लेख है कि राज्य की ओर से किए गए सुदर्शन झील के जीर्णोद्धार की यह विशेषता रही कि इस कार्य हेतु शासन ने न तो नए कर लगाए और न ही लोगों से बेगार ली। इस संदर्भ से यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि बेगार एक सामान्य-सी प्रथा थी। गौतम धर्मसूत्र[27] के अनुसार प्रशासन के लिए 'विष्टि' करते समय राज्य की ओर से उन्हें भोजन मिलने का विधान था।

राज्य के अधिकारियों द्वारा राज्य के दौरे के अवसर पर बेगार लिए जाने के उल्लेख हैं। कुछ लेखों में 'एकंधक' का उल्लेख है। इससे एक तात्पर्य दौरा करने वाले अधिकारियों का सामान ढोने वाला लिया जाता है।[28] राज्य के सार्वजनिक कार्यों के उपयोग की दृष्टि से विष्टि का महत्व रहा होगा। गुप्त युग में भूमिकर सम्बन्धी विवादों का निर्णय करने हेतु न्याय करणिक नामक अधिकारी होते थे। 'उत्खेतयिता' भूमिकर से सम्बन्धित अधिकारी था। अक्षपटलिक, महाक्षपटलिक एवं करणिक नामक राजकीय अधिकारी भूमिकर सम्बन्धी लेखों का संग्रह करके उन्हें लिपिबद्ध करते थे। शुल्क लेने वाले अधिकारी शौल्किक तथा वन से होने वाली आय के अध्यक्ष को गौल्मिक कहते थे। भूमिकर सम्बन्धी सर्वोच्च पदाधिकारी को ध्रुवाधिकरण तथा राजकीय आय सम्बन्धी उच्चतम अधिकारी को भाण्डागाराधिकृत कहा जाता था।[29]

वाकाटक राजाओं के लेखों से विदित होता है कि भूमिकर, पशुकर, गुप्तधन, अथवा निक्षेप नमक की खान, मद्य, दुग्ध, आदि राजकीय आय के साधन थे।[30]

ह्वेनसांग के यात्रा विवरण से हर्षकालीन कर व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिलती है। यात्री के अनुसार भूमि की उपज का 1/6 भाग कर स्वरूप लिया जाता था। बेगारी (विष्टि) की प्रथा नहीं थी।[31] मधुबन ताम्रलेख से विदित होता है कि बिकी हुई वस्तुओं पर उनके मूल्य के अनुपात में कर लिया जाता था। पथ कर एवं नदियों के घाटों पर लगने वाले करों से राजकीय आय होती थी। सामन्त शासकों द्वारा राजा को उपहार रूप में धन एवं बहुमूल्य वस्तुएं मिलती

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

थीं। राजा के ग्रामों से होकर जाने पर ग्रामवासी उपहार रूप में उन्हें कुछ न कुछ देते थे। कर संग्रह में कभी-कभी प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा प्रजा के साथ कठोर व्यवहार के उल्लेख मिलते हैं। इस सम्बन्ध में राजा तक प्रजा की पुकार पहुँचती थी।[32]

शुक्रनीतिसार में मार्ग के जीर्णोद्धार हेतु पृथक कर की व्यवस्था दी गयी है। बाटों पर मुहर लगाने, जुआ खिलाने वाले, नटों, संगीतज्ञों, वेश्याओं, जंगलों एवं चरागाहों से राजकीय आय के उल्लेख मिलते हैं।

भूमि की उर्वरा शक्ति के आधार पर चोल शासक कुलोत्तुंग प्रथम ने भूमि को आठ कोटियों में विभक्त किया था। श्रेष्ठ भूमि पर उपज का 1/3 भाग तथा मध्यम उपज वाली भूमि पर 1/5 भाग कर रूप में लिया जाता था। वीर राजेन्द्र ने चालुक्य शासकों के साथ युद्ध करने के लिए धनसंग्रह हेतु कर लगाया था। चोलों के समय वस्त्र धोने वालों (रजकों) पर लगाया गया कर 'वण्णारपारइ' तथा पल्लवों के शासन में इसे 'पारइक्काणम्' कहते थे।[33] यादववंशी राजाओं ने दुकानों से कर लेने की व्यवस्था की थी। पाण्ड्य राज्य में प्रतिवर्ष प्रति दुकान 6 पण कर रूप में लिए जाने की व्यवस्था थी।

कल्हण की राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि कश्मीर के कुछ शासक अपनी प्रजा से अनियमित कर ग्रहण करते थे। इनमें शंकर वर्मा, ललितादित्य एवं हर्ष के नाम उल्लेखनीय हैं। शंकर वर्मा के राज्यकाल में कर इतना अधिक था कि प्रजा के लिए हवा पीकर प्राण रक्षा के अतिरिक्त अन्य उपाय शेष नहीं रह गया था।[34] उसने 64 मन्दिरों को एक साथ लूटकर धन अर्जित किया था। ललितादित्य ने एक मन्दिर से एक करोड़ की सम्पत्ति प्राप्त की थी। ग्यारहवीं शती ई० के कश्मीर के राजा हर्ष ने मन्दिरों की मूर्तियां गलाकर अपना कोष संवर्द्धित किया था। कश्मीर के एक शासक ने पितृ श्राद्ध करने वालों पर कर लगाया था। अण्हिलवाड़ के राजा सिद्धराज (1094-1143 ई०) ने सोमनाथ मन्दिर के दर्शन हेतु आने वाले यात्रियों पर कर लगाया था। इससे प्रतिवर्ष 75 लाख की आय होती थी। बाद में अपनी माँ के कहने पर उसने यह कर लेना बन्द कर दिया था।

वस्तुत: कर ग्रहण करने में नैतिकता अथवा अनैतिकता विभिन्न युगों के शासकों की मानसिकता तथा आवश्यकता पर निर्भर करती थी। प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने सामान्यतया कर ग्रहण करने में एक व्यावहारिक किन्तु आदर्श व्यवस्था दी थी।

सम्भवत: वैदिक युग में राजकीय आय का अधिकांश भाग राजा एवं राजपरिवार के सदस्यों, रत्नियों तथा सेना एवं युद्धों पर व्यय होता रहा होगा। उस युग में न्यायालय एवं गुप्तचर संस्था का विकास हो गया था। विद्वान ऋषियों को राजा की ओर से धन दिए जाने के उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद में उल्लेख है कि श्रुतरथ ने प्रभुवसु नामक ऋषि को दो घोड़े और तीन सौ गायें दी थीं। उपनिषदों में उल्लेख है कि राजा जनक विद्वानों के सम्मेलन आयोजित करते थे। ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपने ज्ञान के बल पर सुवर्ण जटित सींगों वाली सहस्र गायें पुरस्कार रूप में प्राप्त की थीं। राज्य में शान्ति व्यवस्था बनाए रखने हेतु राजकीय अधिकारियों तथा प्रजा के संरक्षण तथा भरणपोषण पर राजकीय व्यय होता था। यज्ञों के बहुविध आयोजनों पर बड़ी धनराशि व्यय होती थी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

धर्मसूत्रों, महाभारत एवं अनेक साहित्यिक कृतियों से विदित होता है कि गुरुकुलों में अध्ययन करने वाले अन्तेवासी (विद्यार्थी) वनों में तप करने वाले तपस्वी, अपंग, निर्धन विधवाएं, तथा विद्वान ब्राह्मण आदि कर मुक्त थे। महाभारत में उल्लेख है कि धर्मराज युधिष्ठिर स्नातकों को जीविका प्रदान करते थे। राजा के लोक कल्याणकारी कार्यों के अन्तर्गत सदाव्रत एवं दानशालाएं चलती थीं। वैद्यों द्वारा औषधियां देने की व्यवस्था थी। महाभारत में उल्लेख है कि राजकीय व्यय, आय के अर्द्धभाग से अधिक नहीं होना चाहिए। कृषकों को राज्य की ओर से ऋण देने तथा सेना को अग्रिम वेतन देने की व्यवस्था थी।

अर्थशास्त्र में राजकीय व्यय हेतु अनेक विभागों का विवरण मिलता है। देव उपासना, पितरों की पूजा, दान, रतिवास, पाकशाला, दूत प्रवर्तन, कोष्ठागार, आयुधागार, पण्यगृह, कुप्यगृह (कच्चे माल का गोदाम), कमन्ति (विविध कारखाने) विष्टि (बेगार), चतुरंगिणी सेना गोपालन, प्रदर्शनी के पशु, मृग, पक्षी, लकड़ी तथा घास और उद्यान की व्यवस्था। खाली पड़े हुए क्षेत्रों के बसाने के उल्लेख मिलते हैं। इन पर पर्याप्त धन राजकोष से व्यय होता होगा। अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि सन्निधाता को पिछले सौ वर्षों के आय-व्यय की जानकारी रखनी चाहिए जिससे इस सम्बन्ध में प्रश्न किए जाने पर वह पुराने सब विवरण बता सके।

अशोक के धर्मलेखों में वर्णित अंशों के आधार पर कहा जा सकता है कि राजकोष से लोक कल्याणकारी कार्यों पर अतुलित धन व्यय किया जाता था। खारवेल के हाथीगुम्फा लेख से विदित होता है कि राजधानी के जीर्णोद्धार, सिंचाई की सुविधा, युद्ध, प्रजारंजन तथा दान में राजकीय व्यय होता था। गुप्तकाल में युद्धों तथा धार्मिक कार्यों पर पर्याप्त व्यय के संकेत मिलते हैं। चीनी यात्री फाह्यान के विवरण से गुप्त राजवंश द्वारा किए गए धार्मिक कार्यों पर व्यय का उल्लेख मिलता है। ह्वेनसांग ने राजा शीलादित्य (हर्ष) की उदारता का अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया है।

शुक्र ने स्पष्ट रूप से राजकीय व्यय का निर्धारण विविध मदों में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है :[35]

1.	सेना (बलम्)	50 प्रतिशत
2.	दान-धर्म (दानम्)	8-1/3 प्रतिशत
3.	उच्चाधिकारी	8-1/3 प्रतिशत
4.	शासन व्यय (अधिकारिणः)	8-1/3 प्रतिशत
5.	राजपरिवार व्यय (आत्मभोग)	8-1/3 प्रतिशत
6.	स्थायी कोष	16-2/3 प्रतिशत

इसके अतिरिक्त शुक्रनीति (4.7.24) में 1,00,000 आय के राजा का व्यय-पत्र थोड़े भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है :

1.	राजपरिवार व्यय	18000	या	18	प्रतिशत
2.	उच्चाधिकारी	3600	या	3.6	प्रतिशत
3.	लेखक या कार्यालय व्यय	1200	या	1.2	प्रतिशत
4.	रानियां एवं राजपुत्र	3600	या	3.6	प्रतिशत

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

5.	विद्या पुरस्कार	2400	या	2.4	प्रतिशत
6.	सेना	48000	या	4.8	प्रतिशत
7.	हाथी, घोड़े, बारूद	4800	या	4.8	प्रतिशत
8.	स्थायी कोष	18000	या	18	प्रतिशत

प्रस्तुत तालिका के आधार पर कहा जा सकता है कि राजकोष का अधिकांश भाग राज्य की रक्षा पर व्यय किया जाता था। कालान्तर में देवालयों में अतुलित धन संचित रहता था। मुस्लिम आक्रमणकारियों ने इसका लाभ उठाकर अपार धन प्राप्त किया था।

पाद टिप्पणियाँ

1. 'स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृतः सहोभिः।'
   - ऋग्वेद, 7.6.5.
2. अल्तेकर, 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति', पृ० 198।
3. हापकिन्स, 'इण्डिया ओल्ड ऐण्ड न्यू', पृ० 240।
4. ऋग्वेद, 1.65.4।
5. अथर्ववेद, 4.22.2।
6. रामायण, 3, 6.11।
7. यत्करोति परं धर्मं मुनिर्मूलफलाशनः। तत्रराज्ञश्चतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः। - रामायण, अरण्यकाण्ड 6/14
8. महाभारत, सभापर्व 5.62।
9. महाभारत, शान्तिपर्व, 69/28।
10. महाभारत, सभापर्व, अ० 47-48।
11. अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत्।
    ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत्।।
    -महाभारत, 88/7
12. मधुदोहं दुहेराष्ट्रं भ्रमरात्र प्रपातयेत्।
    वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत्।।
    -महाभारत, शान्तिपर्व 88/4।
13. शान्ति पर्व, 71/20।
14. शुक्रनीतिसार, 4/113।
15. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 5/2।
16. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 4/9।
17. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 2/1।
18. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 2/21।
19. वही।
20. वही, 2/22।
21. काणे, पी०वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, अनुवादक अर्जुन चौबे, काश्यप, पृ० 671।
22. वही, पृ० 672।
23. मनुस्मृति, 8/39।
24. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 207।
25. स्ट्रैबो, मैक्रिण्डल : इण्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड इन क्लैसिकल लिट्रेचर, पृ० 75, 143, 145।

State Museum Library Lucknow

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

26. गौतम, मनु आदि मास में 1 दिन के बेगार की तथा शुक्र दो दिन बेगार की अनुमति देते हैं।
27. गौतम धर्मसूत्र, 2.1.35।
28. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 214।
29. बेनी प्रसाद, स्टेट इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृ० 299-303।
30. वा० वि० मिराशी, वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, अनुवादक अजय मित्र शास्त्री, पृ० 54।
31. वाटर्स, 1.176।
32. द्रष्टव्य राम जी उपाध्याय, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका का, पृ० 572।
33. टी० वी० महालिंगम्, साउथ इण्डियन पॉलिटी, पृ० 174।
34. 'कायस्थ प्रेरणादेतैर्देवेनाद्य प्रवर्तितैः।
आयाः से: श्वासशेषैव प्राणवृत्तिः शरीरिणाम्।।'
—राजतरंगिणी, 5.184।
35. द्रष्टव्य, अल्तेकर, वही पृ० 220।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

7

न्याय व्यवस्था

निष्पक्ष न्याय व्यवस्था श्रेष्ठ शासन की आधारशिला है। वैदिक साहित्य में वरुण देवता से सम्बन्धित ऋचाओं के आधार पर उन्हें तत्कालीन सर्वोच्च न्यायाधीश की संज्ञा दी जा सकती है। वे पापियों को दण्ड देने वाले, प्रायश्चित करने पर क्षमा दृष्टि रखने वाले दूरदर्शी कहे गए हैं। सम्भवत: तत्कालीन मान्यता के अनुसार वरुण देवता की कृपा से राजा द्वारा न्याय करना सम्भावित था। वैदिक कालीन सभा में भी न्याय होता था। ऋग्वेद के अनुसार न्याय के लिए भूमि, खेल में धोखा, ऋण, उत्तराधिकार, चोरी, आक्रमण एवं हत्या सम्बन्धी विषयों का समावेश था। द्यूत क्रीड़ा में ऋणी होने पर दास बनने का दण्ड दिया जाता था। सम्भवत: न्याय की प्रक्रिया सरल थी। ऋग्वेद[1] में ऋषि वसिष्ठ का उदाहरण मिलता है, जिन्होंने कहा था–'यदि मैं यातुधान (दोषी) हूँ तो मर जाऊँ अन्यथा व्यर्थ दोष लगाने पर दोष लगाने वाला मर जाए।' ऋग्वेद में मध्यमशी का उल्लेख मिलता है। सम्भव है वादी एवं प्रतिवादी के बीच मध्यस्थता का कार्य करने वाला मध्यमशी हो।

उत्तर वैदिक साहित्य में उल्लिखित न्याय सम्बन्धी उदाहरणों में परम्परागत दैवी विश्वासों की झलक मिलती है। उदाहरणतया छान्दोग्य उपनिषद्[2] के अनुसार चोरी करने के अभियोग में अभियोगी को न्यायाधीश के पास ले जाया जाता था। एक लोहे के दहकते हुए परशु को अभियोगी को हाथों में लेना पड़ता था। यदि वह जल जाता था तो उसे मार डाला जाता था। यदि नहीं जलता था तो निर्दोष घोषित किया जाता था। व्यावहारिक रूप से उसका जलना स्वाभाविक था पर लोगों में यह विश्वास था कि निर्दोष होने पर सत्यदेव उसकी रक्षा करते हैं। पंचविंश ब्राह्मण में भी अग्नि परीक्षा का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार के दण्ड विधान विश्व की अन्य सभ्यताओं में भी प्रचलित थे। मेसोपोटामिया (वर्तमान इराक) में अभियोगी को दजला एवं फरात नदियों के तटों पर खड़ा करके उन्हें बलपूर्वक ढकेल दिया जाता था। यदि नदी में डूबकर मृत्यु हो गयी तो अपराध किया था; बच जाना निरपराधी होने का प्रतीक था।

दिव्य परीक्षा किसी न किसी रूप में भारत में सुदीर्घकाल तक प्रचलित रही। इस तथ्य की चीनी यात्री ह्वेनसांग के विवरण से पुष्टि होती है। वैदिक साहित्य में 'वैरदेय' नामक दण्ड का उल्लेख मिलता है जिसके अन्तर्गत हत्या के अभियोगों में 10 गाय से 1000 गाय और एक बैल का दण्ड अपराधी को देना पड़ता था। तैत्तिरीय संहिता में अलग-अलग अपराधों के लिए अलग-अलग दण्ड का विवरण मिलता है। कुछ विद्वान मानते हैं कि वैदिक न्यायाधीश को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

'प्रश्नविवाक' कहते थे। धर्मसूत्रों में न्यायाधीश के लिए 'प्राड्विवाक' शब्द का उल्लेख मिलता है। प्राड् का शाब्दिक अर्थ 'प्रश्नकर्ता' है। विवाक वह है जो सत्य असत्य को खोज निकालता है। अर्थात् प्रश्नों के माध्यम से सत्य एवं असत्य का अन्वेषी प्राड्विवाक अर्थात् न्यायाधीश है। उसे विधिनियमों का समुचित ज्ञान रहता था। देश धर्म एवं जाति धर्म से भी यह सुपरिचित होता था।

न्याय के अन्तर्गत विधि, दण्ड, व्यवहार आदि शब्दों का उल्लेख प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने किया था। विधि वे नियम माने जा सकते हैं जिनका पालन अनिवार्य हो तथा जिनका उल्लंघन किसी न किसी रूप में दण्डनीय हो। मनु के अनुसार वास्तविक शासक दण्ड होता है। कात्यायन स्मृति में 'व्यवहार' शब्द के दो अर्थ बताए गए हैं। एक में व्यवहार का अर्थ विधि अथवा नियम से है तथा दूसरे अर्थ में व्यवहार शब्द को तीन भागों में बाँटा गया – 'वि'+'अव'+'हार'। इसमें 'वि' का अर्थ बहुत, 'अव' का अर्थ सन्देह तथा 'हार' का अर्थ हटाना है। अर्थात् जिसके द्वारा विविध प्रकार के सन्देह दूर किए जा सकें वह व्यवहार है।

प्राचीन काल में न्यायालयों के लिए धर्मासन, धर्मस्थान तथा धर्माधिकरण आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। स्थूल रूप से न्यायालयों के दो प्रकार थे :

1. राज न्यायालय,
2. विभिन्न प्रकार के अन्य न्यायालय।

राज-न्यायालय वह सभा थी जहाँ राजा ही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। अन्य प्रकार के न्यायालयों को क्षेत्रीय न्यायालय कहा जा सकता है जो क्रमानुसार छोटे-बड़े स्तर के होते थे।[3] राज-न्यायालय के भी दो रूप थे। एक में वह स्वयं मुख्य न्यायाधीश के रूप में उपस्थित होता था। दूसरे में वह किसी कारणवश स्वयं उपस्थित न हो सकने की स्थिति में किसी योग्य व्यक्ति को मुख्य न्यायाधीश के रूप में नियुक्त कर देता था। स्मृतियों में राज-न्यायालय का विस्तृत विवरण मिलता है।

बृहस्पति ने चार प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है :

1. प्रतिष्ठित, 2. अप्रतिष्ठित, 3. मुद्रित, 4. शासित।

किसी ग्राम या नगर में स्थायी रूप से प्रतिष्ठित न्यायालय होते थे। अप्रतिष्ठित न्यायालय अनेक ग्रामों में समय-समय पर अवस्थित होते थे। मुद्रित न्यायालयों में राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश होते थे। वे राजमुद्रा का प्रयोग कर सकते थे। शासित न्यायालय में राजा स्वयं उपस्थित रहता था।

विभिन्न प्रकार के अन्य न्यायालयों में राजसम्मानित कुल, श्रेणी, पूग एवं गण आदि के अपने न्यायालय थे जिन्हें सीमित क्षेत्र में न्याय करने का अधिकार था। कुल न्यायालय में परिवारों के पारस्परिक झगड़ों का निपटारा किया जाता होगा।

राज्य सम्मत व्यापारिक संगठन जो एक ही प्रकार की वृत्ति करते थे, श्रेणी कहलाते थे। इसमें व्यापारी अलग-अलग जातियों के भी होते थे। समय के साथ श्रेणियों की संख्या में वृद्धि होती गयी। मनु द्वारा श्रेणी धर्म अर्थात् श्रेणियों के नियमों एवं परम्पराओं को उनके विवादों को सुलझाने हेतु मान्यता प्रदान की गयी है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार राजा का कर्त्तव्य था कि वह इन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

समूहों (श्रेणी, निगम, पाषण्ड, गण आदि) के धर्मों (नियमों, परम्पराओं) की सुरक्षा करे। उन्होंने इन संघों के नियमों को राजकृत नियमों के समकक्ष रखा है।[4] संघों को अपने अयोग्य अधिकारियों को दण्ड देने का अधिकार था। नारद के अनुसार श्रेणियों की परम्पराओं एवं धार्मिक नियमों को बनाए रखना राजा का कर्त्तव्य था। बृहस्पति के अनुसार श्रेणियों के अध्यक्ष की सहायता हेतु दो, तीन अथवा पाँच अधिकारी होते थे। उन्हें वेदों का ज्ञाता, ईमानदार, कर्त्तव्यों को जानने वाला, उच्चवंशी तथा बुद्धिमान होना आवश्यक था। हिंसा से सम्बन्धित विवादों में राजकीय हस्तक्षेप रहता था। बृहस्पति द्वारा निर्देशित नियमों के अनुसार श्रेणी प्रमुख द्वारा दण्डित व्यक्ति को राजा के पास अपील करने का अधिकार था। श्रेणी प्रमुख द्वारा घृणावश अपने समुदाय के किसी भी व्यक्ति को पीड़ा पहुँचाने पर राजा उसे दण्डित करने का अधिकारी था क्योंकि वे राजा द्वारा ही मान्यता प्राप्त करते थे।[5] शुक्र के अनुसार :

'साहस व स्तेय आदि हिंसामूलक कृत्यों को छोड़कर राजा द्वारा कुल, श्रेणी, गण के लोगों को अपने अन्य विवादों को स्वयं देखने का अधिकार दिया जाना चाहिए। कुल द्वारा उचित निर्णय न होने पर श्रेणी, श्रेणी द्वारा उचित निर्णय न होने पर गण एवं गण द्वारा भी न होने की स्थिति में राजा के न्यायालय में अपील की जा सकती थी।'[6]

प्रस्तुत विवरण से स्पष्ट है कि श्रेणियों को न्यायालय सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। सामान्यतया उनके पारस्परिक झगड़े निजी न्यायालयों में तय कर लिए जाते थे। विशिष्ट परिस्थितियों विशेषकर हिंसाजन्य अपराधों में राज न्यायालय द्वारा उनके झगड़ों का निपटारा होता था।

'पूग' एक ही ग्राम या बस्ती में रहने वाली विभिन्न जातियों एवं विभिन्न वृत्तियां करने वालों के समुदाय को कहते थे। कुछ विद्वानों ने पूग एवं गण को समानार्थी माना है। जब कि कात्यायन के अनुसार पूग 'कुलों का संघ' है तथा गण 'व्यापारियों का संघ' है। अनेक स्मृतिकारों के अनुसार श्रेणी के न्यायालयों की अपेक्षा पूग-गण बड़े न्यायालय थे। सम्भवतः ग्रामों एवं नगरों के झगड़े पूग-गण न्यायालयों में तय कर लिए जाते होंगे।

रामायण में उल्लेख है कि साधारणतः स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रूप से कार्यार्थी बनकर राजकीय न्यायालय में आ सकते थे।[7]

रामायण में राजा नृग का उद्धरण मिलता है। जिसमें आनन्द भोग में लिप्त रहने के कारण दो ब्राह्मणों के गाय से सम्बन्धित झगड़े पर ध्यान नहीं दिया था। न्याय के लिए आए ब्राह्मणों ने आलसी राजा को गिरगिट हो जाने का श्राप दिया था।

महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णित न्याय सम्बन्धी विवरणों से विदित होता है कि राजा को सर्वप्रथम स्वयं नैतिक आचरणों का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। उसे अपने निकटतम सम्बन्धियों को भी अपराध करने पर दण्डित करना चाहिए। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था कि घूस लेकर कभी न्याय नहीं करना चाहिए। राजा को दीन-दुःखियों के प्रति संवेदनशील होकर न्याय करना चाहिए। अपराधी द्वारा अपना अपराध स्वीकार न किए जाने पर साक्षियों का सहारा लेना चाहिए। साक्षी देने वाले को सत्यभाषी एवं सद् आचरणयुक्त होना चाहिए। सम्पन्न लोगों को अर्थदण्ड, निर्धनों को कारावास दण्ड, दुराचारियों को प्रहार दण्ड, राजद्रोहियों, आग लगाने वालें, चोरों तथा व्यभिचार करने वालों को मृत्युदण्ड देना चाहिए। महाभारत में न्याय से सम्बन्धित एक अनूठा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विवरण यह मिलता है कि राजा का कर्तव्य था कि वह चोरी गयी वस्तु का पता लगाकर उसे उसके स्वामी को दे। यदि इसमें वह सफल न हो सके तो राजकोष से उसकी क्षतिपूर्ति करे। इस विधान के कारण राज-कर्मचारी प्राय: सतर्क रहते होंगे क्योंकि असावधानी करने पर उन्हें चोरी गया धन स्वयं देना पड़ता था।

जातक कथाओं के अध्ययन से तत्कालीन न्याय के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। गामणी चण्ड जातक को कथा के आधार पर कहा जा सकता है कि कुछ जनपदों में राजा अकेले न्याय करते थे। झूठ बोलने पर जीभ काट लेने का दण्ड दिया जा सकता था। अनेक जनपदों में ग्राम के मुखिया न्याय करते थे। धर्मानुसार न्याय करने वाले ग्राम मुख्यों को उपहार एवं यश मिलता था। न्याय में पक्षपातपूर्ण आचरण करने पर वे अपयश के साथ-साथ राजदण्ड के भागी होते थे। कुछ जनपदों में गृहस्थ स्त्रियां अपने पति के अतिरिक्त यदि किसी अन्य व्यक्ति से प्रेम करती थीं तो उन्हें दण्डित किया जाता था। बौद्ध साहित्य विनयपिटक में न्याय व्यवस्था का कार्य करने वाले व्यावहारिक महामात्य एवं विनिश्चयमहामात्य के उल्लेख मिलते हैं। कुशीनगर के मल्लों की गणतन्त्रात्मक शासन पद्धति में मल्लों ने सार्वजनिक दण्डविधान की योजना बनायी थी। इसके अनुसार जो व्यक्ति भगवान बुद्ध से मिलने नहीं जायेगा, उसे 500 मुद्राओं का दण्ड देना होगा। बौद्धकालीन न्यायालयों में राजा का न्यायालय, उपराज, सेनापति, अष्टकुल, सूत्रधर, व्यावहारिक तथा विनिश्चयामात्य के न्यायालयों के उल्लेख मिलते हैं। इनको कार्यपद्धति के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख मिलता है :

(*i*) कण्टकशोधन (फौजदारी से सम्बन्धित),

(*ii*) धर्मस्थायी (दीवानी न्यायालय)।

दोनों न्यायालयों में तीन-तीन न्यायाधीश एक साथ बैठकर न्याय करते थे। कण्टकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश को प्रदेष्टा कहा जाता था। धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ कहलाते थे। अपराधी का पता लगाने में गुप्तचरों (गूढ़पुरुषों) की सहायता ली जाती थी। अपराध की स्वीकारोक्ति हेतु अपराधी को पीड़ित किए जाने के विवरण मिलते हैं। न्यायाधीशों को न्याय में विलम्ब करने अथवा अनुचित निर्णय देने पर अर्थदण्ड का भागी होना पड़ता था।

दीवानी न्यायालय प्रजा की सुविधा हेतु राज्य के विभिन्न भागों में कार्य करते थे। अर्थशास्त्र में इनके संग्रहण (दस ग्रामों के बीच), द्रोणमुख (चार सौ ग्रामों के बीच) तथा जनपद सन्धि (जहाँ दो जिले परस्पर मिलते थे) के नगरों में होने का विवरण मिलता है।

मेगस्थनीज के विवरण के अनुसार राजा आबनूस की बनी लकड़ी के बेलन से अपने शरीर की मालिश करवाते समय भी न्याय करता था। झूठी गवाही देने वाले को अंग-भंग का दण्ड दिया जाता था। प्राय: अपराधी का वही अंग काटा जाता था जिसको काटने का उस पर आरोप होता था। अशोक के लेखों से ज्ञात होता है कि वह समस्त प्रजा के प्रति यहाँ तक कि अपराधी के प्रति सहानुभूति रखते हुए उसे सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा करता था। चौथे स्तम्भ लेख के अनुसार उसने राजुक नामक कर्मचारियों की नियुक्ति लाखों मनुष्यों पर की थी। उसका सन्देश था कि राजुक न्याय करते समय व्यवहार समता रखें और दण्ड देने में पक्षपात न करें। जिनको

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

वध दण्ड दिया गया हो उन्हें तीन दिन का अवसर दिया जाए जिससे उनके सम्बन्धी उन्हें छुड़ाने का प्रयत्न कर सकें अथवा उसके परलोक को सुधारने हुते दान एवं उपवास आदि करें। अशोक ने अपने अभिषेक के उपरान्त राज्य काल के 26 वर्षों में 25 बार बन्दियों को कारागार से मुक्त किया था। सम्भवत: राज्याभिषेक की वार्षिक तिथि पर उन्हें बन्धन मुक्त किया जाता था।

गुप्तकाल की न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध में चीनी यात्री फाह्यान के विवरण से विदित होता है कि गुरुतर अपराधों के लिए सामान्यतया अर्थदण्ड दिया जाता था। राजद्रोह करने अथवा उसे बार-बार दोहराने पर दाहिना हाथ काट लिया जाता था। न्यायालयों के नाम, स्वरूप, न्याय सम्बन्धी अधिकारियों आदि के विषय में गुप्तकालीन साहित्य से महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। नगरों के राजकीय न्यायालय धर्मासनाधिकरण कहे जाते थे। न्याय व्यवस्था से सम्बन्धित अधिकारियों के नाम दाण्डिक, चौरोद्धरणिक, दण्डपाशिक आदि मिलते हैं। मृच्छकटिकम् नाटक से विदित होता है कि नगर के न्यायालय को अधिकरणमण्डप कहा जाता था। न्यायाधीश को अधिकरणिक कहते थे।[8] चोल शासकों के अभिलेखों में न्यायालय के लिए 'ओलै' शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्राचीन भारत में न्यायनिर्णय के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों की जानकारी मिलती है। न्याय में विलम्ब अथवा पक्षपात करना दण्डनीय माना जाता था। शासन के अधिकारियों को न्यायाधिकारियों के कार्य में हस्तक्षेप करना अनुचित माना जाता था।[9]

मनु ने पाँच प्रकार के दण्डों का उल्लेख किया है–जुर्माना, कारावास, देशनिष्कासन, अंगविच्छेद एवं प्राणदण्ड। अपराधों की गहनता को देखते हुए दण्ड दिए जाते थे। मनु ने दो प्रकार के चोरों का उल्लेख किया है – प्रकाश एवं अप्रकाश। उनमें उत्कोचक (घूस लेने वाले), उपधिक (डांटकर छीनने वाले) वंचक, कितव (जुआरी), मंगलादेशवृत्त (दूसरों का मंगल बताकर जीविका चलाने वाले), धूर्त, वेश्याएं आदि प्रकाश चोर की कोटि में हैं। अप्रकाश चोर रात्रि में चोरी करने वाले चोर थे। राजा का कर्तव्य है कि समाज के इन दोनों प्रकार के चोरों को समुचित दण्ड दे। अलग-अलग अपराधों के लिए अलग-अलग दण्डों का विवरण मनुस्मृति में विस्तार से मिलता है। उच्चवर्ण के लोगों पर हीन वर्ण के लोगों की अपेक्षा चोरी के लिए अधिक अर्थदण्ड लगाया जाता था। जिस चोरी के लिए शूद्र चोर पर वस्तु के मूल्य का 8 गुना दण्ड लगता था, उसके लिए वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण चोर पर क्रमश: 16 गुना, 32 गुना और 64 गुना दण्ड लगता था।[10]

कल्हण की राजतरंगिणी में दण्ड के कुछ विलक्षण स्वरूपों का विवरण मिलता है। कश्मीर के राजा उच्चल ने अपराधियों को चारणों जैसे वस्त्र पहनाकर भरी सड़क पर डोमों की तरह दौड़ाने का नियम बनाया था। सार्वजनिक रूप से चोरों का उपहास कराया जाता था। कुछ अपराधियों को भड़कीले वस्त्र पहनाकर भड़ुओं के मध्य नचाया जाता था।[11]

प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में वकीलों के सम्बन्ध में अधिक प्रमाण नहीं मिलते। मिलिन्दपञ्हो में 'धम्मपणिक' शब्द का प्रयोग सम्भवत: वकील के लिए किया गया है। नारदस्मृति पर असहाय की टीका में वकील का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वहाँ एक विधि का ज्ञाता एक ऋणी को आश्वासन देता है कि उसे महाजन को ऋण चुकाने की आवश्यकता नहीं है। यदि वह उसे 1000 द्रम्म (मुद्रा) देगा तब वह न्यायालय से उसके अनुरूप निर्णय प्राप्त करेगा। शुक्र

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के अनुसार यदि वादी या प्रतिवादी धर्मनियम न जानने या अन्य कार्यों में व्यस्ततावश अपना मामला समुचित रूप से नहीं चला सकते थे, तब उनके लिए एक प्रतिनिधि की नियुक्ति की व्यवस्था थी। उसे नियोगी कहते थे।

पाद टिप्पणियाँ

1. ऋग्वेद, 7.104.15।
2. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.16।
3. नताशा अरोड़ा, प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था, पृ० 66।
4. निजधर्माविरोधेन यस्तु समायिको भवेत्।
   सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्चयः।।
   –याज्ञवल्क्य स्मृति 2.186।
5. बृहस्पति, 17, 18 (जाली अनुवाद, द्रष्टव्य नताशा अरोड़ा, वही, पृ० 87।
6. राजा ये विदिताः सम्यक् कुलश्रेणिगणादयः।
   साहस्तेयवर्ज्यानि कुर्युः कार्याणिते नृणाम्।।
   विचार्य श्रेणिभिः कार्य कुलैर्यत्र विचारितम्।
   गणैश्च श्रेण्यविज्ञातं गणाज्ञातं नियुक्त कैः।।
   –शुक्र 4, 5, 29-30।
7. रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग 53, दृष्टव्य राम जी उपाध्याय, वही, पृ० 660।
8. प्रस्तुत ग्रन्थ के 'गुप्त शासन पद्धति' के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण अंकित है।
9. नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा वाऽप्यस्य पूरुषः।
   –मनु, 8.43।
10. मनुस्मृति 8, 337-338।
    विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य राम जी उपाध्याय, वही, पृ० 680।
11. राजतरंगिणी, 8, 95-96।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

8

मण्डल सिद्धान्त अथवा अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध

वैदिक युग का भारत जनजातियों के रूप में अनेक राज्यों में विभक्त था। साम्राज्य विस्तार की लिप्सा को धार्मिक कर्मकाण्डों से बल मिला। उदाहरणतया 'अश्वमेध यज्ञ' का अनुष्ठान करने से कोई शासक राजाओं का राजा बनता था। 'वाजपेय यज्ञ' करने से राजा को सम्राट् पद मिलता था। इस प्रकार की विचार धारा से प्रेरित होकर शक्तिमान राजा अपने पड़ोसी राज्य पर आक्रमण करते थे। समीपवर्ती अन्य राज्य तथा दूरस्थ राज्यों की भी ऐसे अवसर पर महत्वपूर्ण भूमिका होती थी।

प्राचीन भारत में लगभग सभी राजशास्त्रप्रणेताओं ने राज्य की बाह्य नीति का प्रमुख आधारमण्डल-सिद्धान्त माना है। कौटिल्य, मनु, आश्रमवासिक पर्व, याज्ञवल्क्य स्मृति, कामन्दकीय नीतिसार, अग्नि पुराण, विष्णुधर्मोत्तर, नीतिवाक्यामृत, राजनीतिप्रकाश, नीतिमयूख आदि ने मण्डलसिद्धान्त पर विस्तृत सामग्री प्रदान की है। इनमें कौटिल्यीय अर्थशास्त्र सम्भवत: प्राचीनतम है। कामन्दक ने मण्डल सिद्धान्त का वर्णन करते हुए विविध राज्यमण्डलों का उल्लेख किया है और उनके विशेष लक्षणों का भी संक्षेप में वर्णन किया है।

सामान्य रूप से मण्डल के अन्तर्गत बारह राजाओं का अस्तित्व माना जाता है। इसमें केन्द्र में 'विजिगीषु' होता है। विजय की अभिलाषा से युक्त अथवा विजय करने वाले राजा को विजिगीषु की संज्ञा दी गयी है। अर्थशास्त्र में यह कहा गया है[1] कि जो राजा आत्मसंपन्न, अमात्य आदि द्रव्यप्रकृति सम्पन्न और नीति का आश्रय लेने वाला हो उसको विजिगीषु कहते हैं।

कामन्दक ने विजिगीषु की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है :[2]

'जो अपने राज्य का विस्तार करना चाहता है, जो राज्य के सातों तत्वों से सम्पन्न है, जो महोत्साही है और जो उद्योगशील है, वह विजिगीषु कहलाता है।'

वस्तुत: आदर्श राजा वही है जो विजय की कामना से प्रेरित होता हुआ अपने दुर्बल पड़ोसियों का दमन करता रहे।

विजिगीषु के अग्रभाग, पृष्ठ भाग, दूर एवं सीमा से कुछ अंशों तक मिले हुए राज्यों के अलग-अलग नामों एवं उनकी भूमिका को अग्रांकित प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :[3]

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

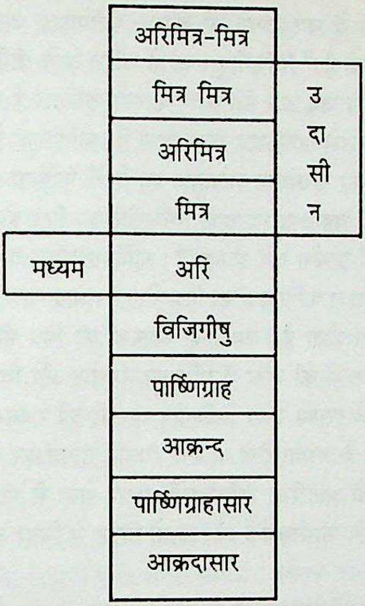

यह उल्लेखनीय है कि नियमत: पड़ोसी राजा का 'अरि' या शत्रु होना आवश्यक नहीं है परन्तु अधिकांशत: पड़ोसी राजा अरि हो जाते हैं। नीतिवाक्यामृत के अनुसार सान्निध्य एवं दूरी शत्रुता एवं मित्रता के कारण नहीं हैं, बल्कि उद्देश्य ही मुख्य है जिसके फलस्वरूप शत्रु या मित्र बनते हैं।[4] शत्रु चार प्रकार के बताए गए हैं :[5] यातव्य, उच्छेद्य, पीडनीय, कर्शनीय। यातव्य वह शत्रु हैं जो विपत्तियों में फँस गया है, उस पर आक्रमण किया जा सकता है। उच्छेद्य वह शत्रु है जिसका कोई आश्रय न (शक्तिशाली दुर्ग या अच्छा मित्र) हो या जिसका आश्रय दुर्बल है अत: उसका नाश कर देना चाहिए। पीडनीय वह शत्रु है जिसके पास मन्त्र एवं शक्तिशाली सेना नहीं है, उसे पीड़ित होना पड़ता है। कर्शनीय वह शत्रु है जिसके पास मन्त्र व सेना की प्रबलता होती है अत: उसे कर्शित किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त शत्रु व मित्र अन्य तीन प्रकार के भी हो सकते हैं : सहज, कृत्रिम, प्राकृत। माता-पिता के सम्बन्ध से प्राप्त मित्र सहज कहे जाते हैं। कृत्रिम मित्र वे हैं जो विजिगीषु अपने प्रयत्नों से प्राप्त करता है तथा प्राकृत मित्र वे हैं जो पड़ोसी राज्य की सीमा से सटे हों। इसी प्रकार सहज शत्रु वह है जो अपने ही परिवार में जन्मा हो, कृत्रिम शत्रु वह है जो विरोधी है तथा पड़ोसी राजा प्राकृत शत्रु है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण[6] व अग्नि पुराण[7] के अनुसार प्राकृत वास्तव में कृत्रिम है।

विजिगीषु के अग्रभाग में पाँच राज्यों को कौटिल्य ने क्रमश: अरि, मित्र, अरिमित्र, तथा अरिमित्रमित्र की संज्ञा दी है।[8] इनके नामों का सम्बन्ध विजिगीषु के सम्बन्धों से है। जैसे विजिगीषु का अरि राज्य, पुन: विजिगीषु का मित्र राज्य, तदुपरान्त विजिगीषु के अरि का मित्र राज्य, विजिगीषु के मित्र का मित्र राज्य तथा विजिगीषु के अरि के मित्र का मित्र राज्य।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विजिगीषु के पृष्ठ भाग में चार राज्यों को क्रमश: पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार एवं आक्रन्दासार की संज्ञा दी गयी है।[9] विजिगीषु राजा के सहित आगे-पीछे के राजाओं को मिलाकर एक राजमण्डल कहलाता है। जब अरि विजिगीषु के सम्मुख रहता है तो विपरीत दिशा के राज्य का शासक पश्चात् होता है उसे पार्ष्णिग्राह कहा जाता है। पार्ष्णिग्राह से तात्पर्य है कि वह राजा जो पीछे से विपत्ति उत्पन्न कर दे अथवा आक्रमण कर दे।[10] पार्ष्णिग्राह की सीमा से लगा राज्य आक्रन्द का कहा जाता है। यह आक्रन्द राजा विजिगीषु का मित्र होता है। विजिगीषु आक्रन्द से सहायता प्राप्त करने की प्रार्थना कर सकता है। पार्ष्णिग्राहासार का राज्य आक्रन्द की राज्य सीमा से सटा रहता है। यह राजा पार्ष्णिग्राह का मित्र होता है। आक्रन्दासार का राज्य पार्ष्णिग्राहासार के राज्य की सीमा से सटा होता है। यह राजा आक्रन्द का मित्र होता है।

अरि और विजिगीषु राजाओं की संधि में संधि का समर्थक और विग्रह में विग्रह का समर्थक राजा मध्यम कहलाता है।[11] इसका राज्य विजिगीषु व अरि की राज्यसीमा से सटा होता है यह दोनों को सहायता दे सकता है अथवा दोनों के लिए विपत्ति उत्पन्न कर सकता है। अरि, विजिगीषु और मध्यम की प्रकृतियों के अतिरिक्त, शक्तिशाली मध्यम राजा से भी बलवान, अरि, विजिगीषु और मध्यम की संधि में संधि का समर्थक और उनके विग्रह में विग्रह का समर्थक राजा उदासीन कहलाता है।[12]

कौटिल्य एवं कामन्दक की मान्यता के विपरीत सोमदेव का मत है कि मध्यम राजा वह है जो विजिगीषु एवं अरि दोनों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है किन्तु कतिपय कारणवश मध्यस्थता धारण किए रहता है।[13] कामन्दक इसके ठीक विपरीत यह तर्क रखते हैं कि जब सम्पूर्ण लोक स्वार्थपरायण है तब मध्यस्थता कैसे हो सकती है।[14] मनुस्मृति में उदासीन राजा के निम्न गुण बताए गए हैं : आर्यता अथवा सज्जनता, पुरुषज्ञान, पराक्रम, दयालुता तथा स्थूललक्षता।[15] याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा टीका में उदासीन राजा के निम्न तीन प्रकार बताए गए हैं :[16] सहज, कृत्रिम व प्राकृत। सहज एवं कृत्रिम उदासीन में न तो सहज शत्रु के लक्षण होते हैं और न सहज मित्र के। विजिगीषु के राज्य के पश्चात् दो राज्यों के बाद स्थित राज्य प्राकृत उदासीन कहा जाता है।

इस प्रकार विजिगीषु, अरि, मध्यम व उदासीन स्वतंत्र श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। विजिगीषु की मित्र श्रेणी के अन्तर्गत मित्र, मित्रमित्र, आक्रन्द, आक्रन्दासार तथा अरि श्रेणी के अन्तर्गत अरिमित्र, अरिमित्र-मित्र, पार्ष्णिग्राह, पार्ष्णिग्राहासार आते हैं। मनु ने मण्डल-सिद्धान्त के मूल में चार प्रकृतियों – विजिगीषु, शत्रु, मध्यम एवं उदासीन को रखा है।[17] कामन्दक ने नय के उद्घोष का उल्लेख करते हुए कहा है कि मण्डल में ये ही चार पाए जाते हैं। कामन्दक के अपने मत से मण्डल से मित्र, उदासीन एवं रिपु पाए जाते हैं।[18] कौटिल्य के मत से उपर्युक्त बारह प्रकृतियां मण्डल में पायी जाती हैं।

कामन्दक ने मण्डल के तत्वों एवं राज्य के तत्वों के विविध सम्मिलनों के आधार पर विभिन्न ग्रन्थकारों के मत दिए हैं, साथ ही यह भी बताया है कि इस प्रकार के सम्मिलनों से मण्डल में 18, 26, 24, 72, 108 प्रकृतियों व अन्य सदस्यों का समावेश हो जाता है।[19] मनु ने भी राज्यतत्वों को मण्डल के बारह सदस्यों से मिलाकर 72 संख्या बतायी है। कौटिल्य का भी यही मत है।[20]

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कौटिल्य के अनुसार बारह राज-प्रकृतियां और साठ अमात्य आदि द्रव्य प्रकृतियाँ मिलकर बहत्तर प्रकृतियाँ कही जाती हैं।

मनु ने इस बात की ओर निर्देश किया है कि राजा के साधन इस प्रकार व्यवस्थित होने चाहिए जिससे उसके मित्र, शत्रु, उदासीन उसको हानि न पहुँचा सके।[21] मेघातिथि भी इससे सहमत प्रतीत होते हैं, उनके अनुसार स्वार्थ आ पड़ने पर मित्र भी शत्रु हो जाता है।

कौटिल्य ने मण्डल सिद्धान्त को शक्ति सिद्धान्त एवं षाड्गुण्य से सम्बन्धित किया है। राजा द्वारा उसकी शक्तियों के क्रियान्वयन पर ही राज्य का कल्याण सम्भव है। महत्वाकांक्षी राजा को षड्गुणों का उपयोग करना चाहिए। संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय तथा द्वैधीभाव यह छः गुण हैं।[22] इनमें दो राजाओं का कुछ शर्तों पर मेल हो जाना सन्धि, शत्रु का कोई उपकार करना विग्रह, उपेक्षा करना आसन, चढ़ाई करना यान, आत्मसमर्पण करना अथवा शक्तिशाली राजा के पास आश्रय लेना संश्रय तथा संधि-विग्रह दोनों से काम लेना द्वैधीभाव कहलाता है।[23]

कौटिल्य का मत है कि विजिगीषु राजा को चाहिए कि वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार सन्धि आदि छः गुणों में जिसको उचित समझे उसी को व्यवहार में लाए। उसके लिए उचित यही है कि बराबर तथा बड़ी शक्ति वाले राजा के साथ वह सन्धि कर ले; और शक्तिहीन के साथ विग्रह कर दे। क्योंकि अधिक शक्तिशाली के साथ विग्रह करने पर शक्तिहीन राजा की वही दुर्दशा होती है जो कि गजारोही सैनिकों के साथ युद्ध में पैदल लड़ने वाली सेना की होती है। और समान बल-विक्रम वाले के साथ विग्रह करने पर वे दोनों ही उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे दो कच्चे घड़े आपस में भिड़ जाने से दोनों ही नष्ट हो जाते हैं और हीन शक्ति के साथ विग्रह करने का वही सुपरिणाम होता है जो पत्थर के घड़े पर चोट मारने से होता है।[24]

प्रस्तुत सन्दर्भ में उल्लिखित एक मण्डल के अन्तर्गत जिन बारह राजाओं का वर्णन किया गया है वे न केवल भारत के विविध राज्यों के सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं, वरन् उन्हें विश्व के रंगमंच पर अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। अन्तर्राज्य सम्बन्धों की भारतीय चिन्तकों की कल्पना उनकी उर्वर मेधा का परिचायक है।

पाद टिप्पणियाँ

1. 'राजा आत्मद्रव्यप्रकृतिसम्पनो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुः'

   –अर्थशास्त्र, 6/2।

2. 'सम्पन्नस्तु प्रकृतिभिर्महोत्साहः कृतश्रमः।
   जेतुमेषणशीलश्च विजिगीषुरिति स्मृतः।।

   –कामन्दक 8/6।

3. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-2, पी॰ वी॰ काणे, अनुवादक अर्जुन चौबे काश्यप, पृ॰ 692।
4. वही, पृ॰ 689।
5. वही, पृ॰ 690।
6. विष्णुधर्मोत्तर पुराण (2/145/15-16)।
7. अग्नि पुराण, (233/21-22)।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

8. तस्मान्मित्रमरिमित्रं मित्रमित्रम् अरिमित्रमित्रं चानन्तर्येण भूमीनां प्रसज्यते पुरस्तात्।
–अर्थशास्त्र 6/2।
9. 'पश्चात्पार्ष्णिग्राह आक्रन्दः पार्ष्णिग्राहासार आक्रन्दासार इति।' - अर्थशास्त्र, वही
10. 'यो विजिगीषौ प्रस्थितेऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात्कोपं जनयति स पार्ष्णिग्राहः। पार्ष्णिग्राहाद्यः पश्चिम स आक्रन्दः पार्ष्णिग्राहमित्रमासार आक्रन्दमित्रं च।'
–नीतिवाक्यामृत, (पृ॰ 319)।
11. 'अरिविजिगीष्वोर्भूम्यनन्तरः संहतासंहत योरनुग्रह समर्थो निग्रहे चासंहतयोर्मध्यमः।' - अर्थशास्त्र, वही
12. 'अरिविजिगीषुमध्यमानां बहिः प्रकृतिभ्यो बलवत्तरः संहतासंहतानामरिविजिगीषुमध्यमानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे चा संहतानामुदासीनः।।' अर्थशास्त्र, वही
13. नीतिवाक्यामृत, 29/31।
14. 'सर्वः स्वार्थपरो लोकः मध्यस्थता क्वचित।' –नीतिसार 8/73।
प्रस्तुत संदर्भ में विस्तृत विवेचन के लिए देखिए डा॰ प्रेम कुमारी दीक्षित कृत 'प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' पृ॰ 26 एवं आगे।
15. मनुस्मृति, 7/211।
16. याज्ञवल्क्य, 1/345 पर मिताक्षराभाष्य।
17. मनुस्मृति, 7/155-156।
18. कामन्दक, 8/86।
19. कामन्दक, 8/20-41।
20. कौटिल्य, 6/2।
21. मनु, 7/177 तथा 7/180।
22. संन्धिविग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यमित्याचार्याः। –कौटिल्य 7/1।
23. तत्र पणबन्धः सन्धिः, अपकारो विग्रहः, उपेक्षणमासनम्, अभ्युच्चयो पानं, परार्पणं संश्रयः, सन्धि विग्रहोपादानं द्वैधीभाव इति षड्गुणाः। - कौटिल्य वही
24. 'विजिगीषुः शक्त्यपेक्षः षाड्गुण्यमुपयुञ्जीत। समज्यायोभ्यां सन्धीयेत। हीननेविगृह्णीयात्। विगृहीतो हिज्यायसा हस्तिना पादयुद्धभिवाभ्युपैति। समेन चायं पात्रमामेनाहतमिवोभयतः क्षयं करोति। कुम्भेनेवाश्मा हीनेनैकान्तसिद्धिमवाप्नोति।'
–कौटिल्य, 7/3।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

9

गण एवं संघ राज्यों का प्रशासन

1. बुद्धकालीन गणराज्य

छठी शताब्दी ईसा पूर्व का समय प्राचीन भारतीय इतिहास में एक नए अध्याय का सूत्रपात करता है। इस समय तक जनों के स्थान पर जनपदों का प्राधान्य हो गया था, जिसकी झलक परवर्ती वैदिक, बौद्ध व जैन साहित्य में मिलती है। किन्तु किसी एक सर्वशक्तिशाली सत्ता के अभाव में उत्तर भारत अनेक जनपदों में विभक्त था। बौद्ध ग्रंथों, अंगुत्तर निकाय, महावस्तु, विनयग्रंथ तथा जैन ग्रंथ, भगवती सूत्र में इन जनपदों का उल्लेख हुआ है। बौद्ध ग्रंथ अंगुत्तर निकाय 'षोडशमहाजनपद' की सूची देता है। पुराणों में भी कुछ जनपदों का उल्लेख हुआ है।

सोलह बड़े जनपदों के अतिरिक्त गंगा की उपत्यका में कुछ गणराज्यों अथवा संघों[1] का भी अस्तित्व था। इनमें से कुछ महात्मा बुद्ध के समय भी विद्यमान थे। बौद्धग्रंथ 'महापरिनिब्बानसुत्तन्त' में कुछ गणराज्यों का उल्लेख है :

1. कुशीनारा के मल्ल (मल्ला कोसिनारका)।
2. पावा के मल्ल (मल्ला पावेय्यका),
3. कपिलवस्तु के शाक्य (सक्या कापिलवत्थवा),
4. रामग्राम के कोलिय (कोलिया रामगामका),
5. पिप्फलिवन के मोरिय (मोरिया पिप्फलिवनिया),
6. अल्पकप्प के बुलिय (बुलयो अल्लकप्पका)।

इसके अतिरिक्त अन्य बौद्ध ग्रन्थों में केसपुत्त के कालाम तथा सुंसुमारगिरि के भग्ग का भी उल्लेख है। वज्जि का उल्लेख अंगुत्तर निकाय में सोलह महाजनपदों के साथ हुआ है। वज्जि संघ में आठ गणतन्त्र सम्मिलित थे। इन्हें 'अट्ठकुलिक' नाम से जाना जाता था, जिन में वज्जि, लिच्छवि व विदेह महत्वपूर्ण थे। इसके अतिरिक्त ज्ञातृक या ञातिक भी था। पाणिनि[2] की अष्टाध्यायी में क्षुद्रक, मालव, अम्बष्ठ, हास्तिनायन, प्रकण्व, मद्र, आप्रीत, वसाति, शिवि, भग्ग, आश्वायन, आश्वकायन, के नाम मिलते हैं। इनमें से अधिकतर सिकन्दर के आक्रमण के समय तक विद्यमान थे।

पाणिनि ने 'राजाधीन' वंगणाधीन शासन व्यवस्था की चर्चा की है। सम्भवत: ये गणाधीन जनपद ही संघ रहे होंगे। इस बात की भी सम्भावना प्रबल ही है कि यह आधुनिक प्रजातन्त्र

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के अनुरूप ही रहे होंगे। किन्तु ये संघ या गण किसी शासनपद्धति का पर्याय नहीं थे, अपितु ये भूमि अथवा राज्य से भी सम्बन्धित थे। ये संघ कब और कैसे अस्तित्व में आए, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है। नृपतंत्रात्मक शासन व्यवस्था से संतुष्टि न मिलना अथवा शासक-वर्ग के कमजोर होने पर शासन सत्ता कुछ अन्य व्यक्तियों द्वारा स्वहस्त करना आदि सम्भावनाएं संघों के उदय में सहायक रही होंगी।

ये संघ अथवा गण राज्य अपने प्रशासन के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण थे। गंगा-घाटी के गणराज्य दो प्रकार के थे, एक तो वे, शाक्य, कोलिय, कुसीनारा तथा पावा के मल्ल, जहाँ एक ही जाति शासन करती थी तथा दूसरे वज्जि आदि जहाँ अनेक जातियों का संयुक्त शासन था। इनमें सबसे विशेष बात यह थी कि इनमें कोई ऐसा पुश्तैनी राजा न था जो पूरे राज्य पर शासन करता। इन संघों का मुख्य व्यक्ति अध्यक्ष (गणपति, गणज्येष्ठ, गणराज तथा संघमुख्य) व उसकी मन्त्रिपरिषद् थी।

शाक्य संघ[3] की सभा में 500 सदस्य थे जिसे महावस्तु में 'शाक्य परिषद्' बताया गया है। सभा की बैठक स्तम्भयुक्त संस्थागार में होती थी। इस सभा का मुख्य 'राजा' होता था। बुद्ध के पिता शुद्धोधन सम्भवत: इसी प्रकार के राजा थे। भगवान बुद्ध ने शाक्यों के नए संस्थागार का उद्घाटन 'सेख-सुत्त' (मज्झिम-निकाय) और अवस्सुत-सुत्त (संयुक्त निकाय) के व्याख्यानों से किया था। 'महावस्तु' ग्रन्थ से इस बात का भी पता चलता है कि शाक्य परिषद् शाक्यगण व कोलियगण के वाद-विवादों को सुलझाने का भी कार्य करती थी। एक अन्य महत्वपूर्ण विषय की भी जानकारी मिलती है कि जब विडूडभ ने शाक्यों पर आक्रमण किया तो यह प्रश्न शाक्यों की संघ सभा के समक्ष निर्णय हेतु उपस्थित किया गया था कि विडूडभ के आक्रमण के समय राजधानी कपिलवस्तु के द्वार खोले जाएं अथवा नहीं। कुछ ने उन्हें खोल देने के पक्ष में निर्णय दिया तथा कुछ ने ऐसा न करने की सलाह दी। अन्त में इस विषय पर बहुमत लिया गया। इस सारे प्रकरण में यही बात प्रबल है कि महत्वपूर्ण विषय बहुमत के आधार पर निर्णीत होते थे। यह बात शाक्यों की प्रजातांत्रिक कार्यप्रणाली की ओर संकेत करती है।

गंगा घाटी में स्थित कुछ गुणराज्य ऐसे भी थे जिनमें सुदृढ़ न्याय प्रक्रिया भी थी तथा विभिन्न श्रेणी के अफसर भी थे। कोलियगण की पुलिस व्यवस्था इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। संयुक्त निकाय में कोलियों के आरक्षक पुरुषों (पुलिस) का उल्लेख है। ये रक्षापुरुष सम्भवत: चोर-डाकुओं से लोगों की रक्षा करने का कार्य करते थे। किन्तु इनके द्वारा किया जाने वाला उत्पीड़न, अत्याचार व उद्दण्डता भी कुख्यात थी। बुद्ध और पाटलिग्रामणी के संवाद में इन रक्षापुरुषों की बात आई है[4]।

बुद्ध – 'ग्रामणी, कोलियों के लम्बे बाल वाले रक्षापुरुषों को जानते हों ?
पाटलिग्रामणी – 'हां भन्ते, उन्हें जानता हूँ।'
बुद्ध – 'कोलियों के लम्बे बाल वाले पुरुष किस लिए रखे गए हैं ?
पाटलिग्रामणी – 'भन्ते, चोरों से पहरा देने और दूत का काम करने के लिए।'

बौद्ध साहित्य मल्ल संघ की शासन-प्रणाली का विवरण देते हैं। दीघ निकाय के संगीति सुत्त से इस बात की जानकारी मिलती है कि पावा के मल्लों ने 'उभटक' नामक नया सभाभवन

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बनवाया था, जिसका भगवान बुद्ध ने उद्घाटन किया था। बुद्ध के महापरिनिर्वाण का समाचार आनन्द ने सबसे पहले पावा के मल्लों के पास भेजा, वे उस समय अपने संस्थागार में अधिवेशन कर रहे थे। बुद्ध महापरिनिर्वाण के बाद वे फिर उनके पवित्र अवशेषों के विषय में विचार करने के लिए एकत्र हुए। उनके शासनकर्त्ता पुरिसा कहलाते थे जो पुलिस की भाँति थे। वे सैनिक प्रवृत्ति के थे व मल्ल कहलाते थे। बुद्ध ने एक बार कहा था कि मल्लसंघ अपने सदस्यों को प्राण या मृत्युदण्ड, देश निर्वासन और न्याय रक्षा से बहिर्गत करने में पूर्ण स्वतंत्र थे। कौटिल्य[5] ने मल्लों को 'राजशब्दोपजीविनः' कहा है।

गंगा-घाटी में स्थित गणराज्यों में वज्जि सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। अंगुत्तर निकाय में इसका उल्लेख महाजनपद के रूप में हुआ है। किन्तु वज्जियों की प्रजातांत्रिक शासन-प्रणाली छठी शताब्दी ईसा-पूर्व में विश्व-विश्रुत थी। वज्जियों की राजधानी वैशाली सुप्रसिद्ध नगरी थी। इसका समीकरण मुजफ्फरपुर जिले में बसाढ़ नामक स्थान के साथ किया जाता है। 'विशाला' इसका अन्य नाम था। महावग्ग के अनुसार 'उस समय वैशाली ऋद्ध, स्फीत, बहुजनों से आकीर्ण, अन्नपान सम्पन्न थी। उसमें 7707 प्रासाद, 7707 कूटागार, 7707 आराम व 7707 पुष्करियाँ थीं।[6] 'समन्तपासादिका' में इस बात का उल्लेख है कि इसकी बढ़ती जनसंख्या के कारण चहारदीवारी बढ़ानी पड़ी थी। 'महावग्ग में इसकी जनसंख्या 1,68,000 बतायी गयी है। वज्जि संघ की चार प्रमुख सदस्य जातियों का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं किन्तु इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान वज्जियों व लिच्छिवियों का था। पालिग्रन्थों के अनुसार वज्जि व लिच्छवि एक दूसरे के महापरिनिब्बानसुत्तन्त में लिच्छिवियों के त्याग व परिश्रम की चर्चा है।

दीघ निकाय के 'जनवसभसुत्तन्त' में वज्जियों व मल्लों का युग्म जनपदों के रूप में उल्लेख है। जैनग्रंथ 'कल्पसूत्र' के अनुसार अजात शत्रु के विरुद्ध संघर्ष में वज्जियों व मल्लों ने काशी-कोसल के गणराज्यों के साथ मिलकर एक विशाल संगठन बनाया था, जिसमें 9 लिच्छवि, 9 मल्ल तथा काशीकोसल के 18 गणराजा सम्मिलित थे।

बुद्धघोष ने 'अट्ठकथा' में वज्जिसंघ के 7707 राजाओं का उल्लेख किया है। इनका चुनाव वैशाली की विशाल जनसंख्या में से होता था। साथ ही 7707 उपराजा व 7707 सेनापतियों का भी उल्लेख है। 'चुल्लकलिंग जातक' व 'एकपण्ण जातक' के अनुसार इन राजाओं, उपराजाओं व सेनापतियों के साथ 7707 भाण्डागारिक भी थे।[7] पाणिनि ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि राजन्य कहे जाने वाले वे समस्त क्षत्रिय संघ राज्यों की गणसभा के सदस्य होते थे जो शासन के लिए अभिषिक्त होते थे।[8] यद्यपि 7707 राजाओं की संख्या पर विश्वास करना कठिन है किन्तु अल्तेकर[9] महोदय इसे स्वीकार करते हुए कहते हैं कि ये राजा वास्तव में संघ के क्षत्रिय जातीय जमींदार थे और जमींदारी का कार्य अपने भाण्डागारिकों से कराते रहे होंगे। उनके पुत्रों को उपराजा कहा जाता होगा तथा समय-समय पर सैनिक सहायता देने के कारण उनके पास एक-एक सेनापति भी रहता होगा। लिच्छिवि राजाओं की चर्चा 'ललित विस्तर' में भी हुई है, जहाँ यह कहा गया है कि सभी स्वयं को 'राजा' कहा करते थे।[10] वे विभिन्न रंगों के वस्त्र धारण करके सभा भवन तथा उत्सवों में जाते थे। उनके आभूषण, घोड़े, रथ, उष्णीश, छत्र, जूते, चाबुक, छड़ी सभी एक रंग के होते थे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लिच्छवियों की सभा के अधिवेशन संथागार (संस्थागार) भवन में होते थे। 'अट्ठकथा' में यह कहा गया है कि अधिवेशन प्रारम्भ होने की सूचना घड़ियाल बजाकर दी जाती थी। लिच्छवि राजाओं की सर्वोच्च सभा 'संस्था' थी। इसमें विदेशी, धार्मिक, कृषि, व्यापारिक आदि मामलों पर विचार-विमर्श होता था। एक जातक में ऐसा उल्लेख है कि राजाओं का विधिवत् अभिषेक होता था। इस कार्य के लिए वैशाली में एक पुष्करिणी थी।[11] 'महावस्तु' ग्रंथ से ज्ञात होता है कि लिच्छवियों की 'संस्था' में निर्णय में जनता का विशिष्ट सहयोग रहता था।

वैशाली की गणसंस्था का कार्य कार्यकारिणी की नियुक्ति करना भी था। यह महासमिति होती थी जो विदेशी व आन्तरिक मामलों की देख रेख करती थी। इस बात की सम्भावना व्यक्त की गयी है कि यह महासमिति ही जैन ग्रंथों में उल्लिखित 'नवलेच्छइ' थी।[12] इसके अतिरिक्त 'अष्टकुल' नामक एक अन्य संस्था भी थी जिसमें समस्त आठ सदस्य जातियों के प्रतिनिधि होते थे, यह न्याय समिति थी। वज्जियों की न्याय-प्रणाली के विषय में बुद्ध घोष की अट्ठकथा से जानकारी मिलती है अपराधी के अपराध की जाँच व न्याय का निर्णय विभिन्न अधिकारी व संस्थाएं करती थीं। सबसे पहले विनिश्चय महामात्र के सम्मुख अभियुक्त आता था जो अपराध के तथ्यों का निश्चय व संग्रह करता था। उसके बाद क्रमश: व्यावहारिक वकील व सूत्रधार होता था। सूत्रधार धर्म व रीति-रिवाजों के सूत्र को जानकर उनके परिवर्तनशील बाह्य रूप के भीतर छिपे हुए मूल भाव की व्याख्या करता था। इसके बाद मामला अट्ठकुल (अष्टकुल) समिति के पास आता था। इसके बाद क्रमश: सेनापति, उपराजा व राजा के समक्ष अभियुक्त प्रस्तुत होता था। सम्पूर्ण प्रक्रिया में यह महत्वपूर्ण है कि दोषी व्यक्ति को दण्ड देने का अन्तिम अधिकार केवल राजा को था। राजा पवेणीपोत्थक (पिछले मामलों की मिसलें) के आधार पर निर्णय देता था। न्याय की यह प्रक्रिया बहुत सम्भव आदर्शभूत प्रतीत होती है। यही कहा जा सकता है कि न्याय सभी पक्षों पर विचार करके ही प्रदान किया जाता था।

अंगुत्तर निकाय में लिच्छवियों के कुछ पदों के नामों का उल्लेख है – राष्ट्रिक, पेत्तणिक, सेनापति, गाम-गामणिक (गाँवों का मुखिया), तथा पूगगामणिक (औद्योगिक संस्थाओं का मुखिया)।[13] गामगामणिक व पूगगामणिक ग्राम व नगर प्रशासन से सम्बन्धित थे।[14]

वज्जि अपने उच्च जन चरित्र्य के लिए भी प्रसिद्ध थे। बौद्ध ग्रन्थों में उनके अनेक गुणों की चर्चा है। वे परिश्रमी, कर्त्तव्यनिष्ठ, परमनिष्ठावान् थे। यही कारण है कि वे अजेय समझे जाते थे। स्वयं भगवान् बुद्ध भी लिच्छिवियों की प्रशंसा करते थे। उनके अनुसार जब तक लिच्छवि सात 'अपरिहानिय धम्मो' का पालन करते रहेंगे, अजेय रहेंगे। महापरिनिब्बानसुत्तन्त में ये इस प्रकार वर्णित हैं :[15]

1. नियत समय पर सदस्यों की पूर्ण उपस्थिति के साथ संघ सभा के अधिवेशन करना (अभिण्हं सन्निपाता सन्निपातबहुला भविस्संति)।
2. एकमत था समग्र भाव से संघ में उपस्थित होना, एक मत या समग्र भाव से अधिवेशन समाप्त करना और एकमत या समग्र भाव से संघ के कर्त्तव्य करना (समग्गा सन्निपतिस्संति समग्गा बुटठ हिस्संति समग्गा संघ करणीयानि करिस्संति)।
3. जो स्वीकृत नहीं हुआ है उसे स्वीकार नहीं करना, जो स्वीकृत हो चुका है उसका समुच्छेद

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नहीं करना, और वज्जिसंघ के यथा स्वीकृत पूर्व निश्चयों को लेकर उनके अनुसार कार्य करना (अप्पञ्जतं न पञ्ञापेस्संति, पञ्ञतं न समुच्छिन्दिस्संति, यथा पञ्ञत्तेसु सिक्खापदेसु समादाय वत्तिस्संति)।

4. वज्जिसंघ के जो संघपितर या वृद्ध हैं और जो संघपरिणायक या नेता हैं, उनका सत्कार करना, उनके प्रति गौरव का भाव रखना, उनका सम्मान करना और पूजा करना और उनके वचन सुनकर उन्हें मानना (ये ते संघपितरो संघपरिणायका ते सक्करिस्संति गुरु करिस्संति मानेस्संति पूजेस्संति तेसञ्च सोत्तब्बं मञ्जिसंति)।
5. वज्जिसंघ में भीतर और बाहर जो चैत्य हैं उनकी पूजा बनाए रखना और पूर्वकाल से नियत बलि एवं धार्मिक कृत्यों को जारी रखना (वज्जि चेतियानि अब्भंतरानि चेव बाहिरानि च तानि सक्करिस्संति गरुकरिस्संति, मानेस्संति, पूजेस्संति तेसञ्च दिन्न पुब्बं कत पुब्बं धम्मिकं बलि नो परिहास्संति नी परिहापेस्संति)।
6. वज्जिसंघ में जो धार्मिक अरहन्त हैं, उनका सम्मान करना (वज्जीनं अरहंतेसु धम्मिका, रक्खावरण गुत्ति सुसंविहिता भविस्संति)।
7. वज्जिसंघ के महल्लकों अर्थात् वृद्धों का सत्कार करना, उनके प्रति गौरव का भाव रखना, उनका सम्मान करना और पूजा करना, कुल स्त्रियों और कुल कुमारियों का अपहरण न करना और उनके साथ बलपूर्वक व्यवहार न करना (ये वे वज्जीनं वज्जिमहल्लका वे सक्करिस्संति गरु करिस्संति, मानेस्संति, पूजेस्संति ... या ता कुलित्थियो, कुलकुमारियो ता न आक्कस्स पसह्य वासेन्ति)।

बुद्धकालीन किसी भी गणराज्य की संघीय कार्यविधि का विवरण नहीं मिलता किन्तु बौद्ध संघों की कार्य पद्धति का विवरण पालि 'महावग्ग' व 'चुल्लवग्ग' में मिलता है। प्रायः यह मत दिया जाता है कि बौद्ध संघों की कार्यपद्धति राजनीतिक संघों की कार्यपद्धति पर आधारित थी यद्यपि इसको सतर्क प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। भगवान् बुद्ध ने वज्जि संघ के अजेय रहने के लिए जो सात अपरिहानिय धम्म बताए थे उनमें से कुछ उन्होंने आवश्यक संशोधनों के साथ बौद्ध संघों पर लागू किए थे। महापरितिब्बान सुत्तन्त इस विषय में जानकारी देता है कि अजात शत्रु द्वारा लिच्छिवियों को जीतने के लिए वरसकार को बुद्ध के पास भेजने पर भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को संघ को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए सात अपरिहानिय नियम बताए। इनमें प्रथम चार तो पूर्ववत् थे शेष तीन में कुछ संशोधन कर दिया गया था (पुनः पुनः उत्पन्न होने वाली तृष्णाओं को वश में रखना, मात्र वन की कुटियों में वास करने की इच्छा रखना, संघ में प्रविष्ट ब्रह्मचारियों के सुख का प्रयत्न करना[16])। अतः राजनीतिक संघों की संघीय कार्यपद्धति को जानने के लिए बौद्ध संघों की कार्यपद्धति को जानना आवश्यक है।

धार्मिक संघों के अधिवेशन संस्थागारों अथवा उद्यान (आराम) में होते थे जहाँ दस वर्ष का अनुभवी भिक्षु जिसे आसनपञ्ञापक (आसनप्रज्ञापक) कहते थे, क्रम से आसन लगाता था। अधिवेशनों के लिए भिक्षुओं की उपस्थिति की संख्या पर भी विचार होता था। संघ का अध्यक्ष 'विनयधर' कहलाता था। संघपूरक संख्या में भिक्षुणी, सिक्खमाना, सामणेर, दूसरे धर्मों के प्रतिनिधि या दूसरे जनपदों के व्यक्ति जिनके विरुद्ध संघ ने कोई कार्यवाही की हो संघपूरक संख्या में नहीं

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आते थे। संघपूर्ति की संख्या के अभाव में संघ वग्ग या व्यग्र कहलाता था। ऐसे संघ के निर्णय अमान्य होते थे। योग्य सदस्यों की पूरी बैठक सम्मुखा भी कहलाती थी। जो सदस्य गणपूर्ति करता था, उसे गणपूरक कहते थे।

अधिवेशन में प्रस्ताव के बिना कोई विषय उपस्थित नहीं हो सकता था। प्रस्ताव को 'ज्ञप्ति' कहते थे। उसके बाद उसका नियमित अनुस्सावन (अनुश्रावण या आवृत्ति) होता था। जिस 'ज्ञप्ति' पर कोई मतभेद न होता था, वह एक बार पढ़ी जाती थी, अन्यथा होने पर उसका तीन बार पढ़ा जाना अत्यन्त आवश्यक था। ज्ञप्ति के प्रस्तुत किए जाने पर किसी सदस्य के मौन रह जाने को उसकी सहमति माना जाता था संघ द्वारा स्वीकृत प्ररताव 'संघकर्म, कहलाते थे। किन्तु ज्ञप्तियों को सदस्य सदा चुपचाप नहीं सुनते थे उनमें प्राय: वाद-विवाद व कलह हो जाता था।

'ज्ञप्ति' पर मतभेद हो जाने पर एकमत होने की युक्तियां खोजी जाती थीं। एक युक्ति 'तिनवत्थारक' कही जाती थी। सभी सदस्य एक निश्चित स्थान पर एकत्र होकर प्रत्येक दल के नेता से अपने विवाद को सुलझाने को कहा जाता था।

यहाँ पर भी निर्णय न होने पर एक समिति को विवादित विषय सौंपा जाता था। यह समिति उब्बाहिक या उद्वाहिका सभा कहलाती थी। यह निर्णय तक उद्वहन करती थी इसलिए इसे उद्वाहिका कहा गया है। यह समिति अन्यत्र शान्त स्थल में आकर विचार-विमर्श करती थी।

जिसके विषय में निर्णय हो चुका है उसे पुन: संघ के सामने नहीं लाया जा सकता है। चुल्लवग्ग में ऐसे व्यक्ति के लिए दण्ड निर्धारित है जो निर्णीत विषय को पुन: उठाता है।

जब एकमत होने के सभी रास्ते बन्द हो जाते थे तथा उद्वाहिका सभा भी निर्णय देने में असमर्थ होती थी तब बहुमत की पद्धति काम में लायी जाती थी, जिसे 'येब्भुय्यस्सिकेन' कहा जाता था। ऐसा सदस्य जो पक्षपात, दोष, मोह और भय से रहित होता था, संघ के विशेष प्रस्ताव द्वारा मतदान अधिकारी या शलाका-ग्राहक नियुक्त किया जाता था।

मत के लिए 'छन्द' शब्द अभिप्राययुक्त था। मतदान शलाका-ग्रहण से होता था। ये शलाकाएं लकड़ी की व विभिन्न रंग की होती थीं। इन्हें सदस्यों में वितरित कर मत के अनुरूप चुने जाने को कहा जाता था।

शलाका एकत्र करने वाला अधिकारी शलाकाग्राहापक कहलाता था। उन्हें एकत्र अनेक प्रकार से किया जाता था – छिपे ढंग से (गुह्यक), कान के पास आहिस्ता से कहकर (स्वकर्णजल्पकम्), खुले रूप में (विवृत्तकम्), सबके सामने (विश्वस्त)। बहुमत केवल अन्तिम अवस्था में ही लिया जाता था। बात के बिल्कुल तुच्छ होने पर बहुमत की विधि नहीं लागू करने का विधान था।

2. महाभारत में वर्णित गण एवं संघ राज्य

गणराज्यों का शासन किसी एक व्यक्ति द्वारा संचालित न होकर बहुत से लोगों द्वारा संचालित किया जाता था। गणराज्यों के नागरिकों के अधिकार समान होते थे।[17] महाभारत के शान्तिपर्व में गण एवं संघराज्यों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विवरण मिलते हैं। यौधेय, मालव, शिबि, औदुम्बर, अन्धक-वृष्णि त्रिगर्त, अम्बष्ठ, वातधान, यादव, कुकुर, भोज आदि गणराज्यों का उल्लेख महाभारत में हुआ है। गणराज्यों के उत्थान एवं पतन के सम्बन्ध में युधिष्ठर द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में शर-शय्या पर पड़े भीष्म ने महत्वपूर्ण प्रकाश डाला था। उदाहरणतया गणों के विनाश का कारण पारस्परिक फूट होती है। अत: उन्हें संघ के रूप में संगठित होकर अपनी शक्ति में वृद्धि करनी चाहिए।

उत्तमगण तभी प्रगति करते हैं जब वे शास्त्र सम्मत धर्म के अनुसार आचरण करते हैं। कुलमुख्यों का दायित्व है कि वे अपने कुल के सदस्यों पर नियन्त्रण रखते हुए उनमें गुणों का समावेश कराएं। गणमुख्यों को समुचित आदर दिया जाना चाहिए। गण प्रधान के लिए मन्त्र-गुप्ति आवश्यक है। कुलों में कलह की स्थिति उत्पन्न होने पर कुलमुख्यों को उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। कुल कलह से गण में फूट उत्पन्न होती है। आभ्यन्तर भय उनकी जड़ों को काटने वाला होता है। शत्रु लोग भेद एवं धन के प्रयोग से गणों पर विजय प्राप्त करते हैं। अत: संघ ही एक मात्र ऐसा उपाय है जिससे गणों की सुरक्षा सम्भव है।[18]

क्रोध, लोभ व मोह के कारण गण के मुख्यों एवं नेताओं में इतनी अधिक फूट पड़ जाती है कि वे परस्पर वार्तालाप भी बन्द कर देते हैं। ऐसी दशा पराभव की सूचक है।[19] अत: गण मुख्यों में परस्पर सम्मान का भाव नितान्त आवश्यक है। महाभारत में उल्लेख है कि गण के सभी सदस्य जन्म एवं कुल परम्परा की दृष्टि से समान होते हैं। किन्तु पराक्रम, बुद्धि, शरीर-स्वरूप एवं सम्पन्नता में समान नहीं होते। ऐसी स्थिति में शत्रुगण उनमें आन्तरिक कलह उत्पन्न करने एवं धन देकर उन्हें नष्ट करने की चेष्टा करते हैं। अत: गणों की सुरक्षा का मूल आधार उनकी एकता है।

सम्भवत: गणराज्यों में अध्यक्ष निर्वाचित किए जाते थे और कभी-कभी उन्हें राजा की उपाधि दी जाती थी। उदाहरणत: महाभारत में उग्रसेन को वृष्णि गणराज्य का तथा आहुक को अन्धक-वृष्णियों के संघ राज्य का मुख्य कहकर सम्बोधित किया गया है। पालि बौद्ध साहित्य में शाक्यों तथा लिच्छवियों के गण प्रमुख को 'राजा' कहा गया है।

नृपतन्त्रात्मक राज्यों की भाँति गणराज्यों की अधिकार सम्पन्न सभा का उल्लेख महाभारत में मिलता है। सभा का कार्य नीति निर्धारण करना तथा समयोचित निर्णय लेना था। महाभारत में वृष्णियों की सभा का नाम सुधर्मा मिलता है। सुभद्राहरण के प्रसंग में वर्णित कुछ अंशों से तत्कालीन सभा के कार्यों एवं अधिकारों के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इसके अनुसार – सुभद्राहरण का समाचार पाकर सभापाल ने बिगुल बजाया, जिसे सुनकर सभासद सभा में उपस्थित हुए। उस समय गण प्रधान उग्रसेन राजधानी में नहीं थे। इस घटना पर सभा में वाद-विवाद हुआ तथा उसके निर्णय को कार्यान्वित किया गया। इससे विदित होता है कि गण प्रधान की अनुपस्थिति में भी सभा महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय देती थी और उसे कार्यान्वित किया जाता था।[20] वस्तुत: सभा में महत्वपूर्ण विषयों पर विचार-विमर्श होता था किन्तु ऐसी बातें जो गणराज्य के हित में गुप्त रखी जानी आवश्यक थीं; उन्हें सभा में नहीं रखा जाता था। महाभारत में उल्लेख है कि गणमुख्यों को मन्त्रगुप्ति रखनी चाहिए (मन्त्रगुप्ति: प्रधानेषु)। गण को भेद से बचाना अथवा आदि उत्पन्न होते ही उनका दमन करना उनका प्रमुख कर्त्तव्य था। मन्त्रगुप्ति एवं समुचित चर-व्यवस्था का उत्तरदायित्व गणमुख्य का माना गया है।

गणमुख्यों की निर्वाचन पद्धति के सम्बन्ध में महाभारत से जानकारी नहीं मिलती। उनके कर्तव्यों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि बुद्धिमत्ता, पराक्रम तथा संगठनात्मक शक्ति से संयुक्त होना उनके लिए आवश्यक रहा होगा। महाभारत में उल्लेख है कि जिन गणों में धर्मशास्त्रों के अनुसार न्याय-व्यवस्था होती है, और उस व्यवस्था को मान्यता दी जाती है, वे गण उन्नति को प्राप्त होते हैं।[21] गणों में परस्पर सहयोग की भावना की वृद्धि से समर्थ व्यक्ति कष्टों में पड़े हुए असहायों की सहायता करते हैं।[22]

संघ राज्य

महाभारत कालीन गणराज्य प्रायः छोटे-छोटे राज्य थे। अतः सुरक्षा की दृष्टि से कई गणराज्य मिलकर एक संघ राज्य बना लेते थे। महाभारत में अन्धक एवं वृष्णि गणराज्यों के एक संघ का उल्लेख मिलता है जो अन्धक-वृष्णि संघ के नाम से जाना जाता था। इस संघ के अध्यक्ष आहुक थे। वृष्णि राज्य के अध्यक्ष उग्रसेन थे। इससे निष्कर्ष निकलता है जो राज्य संघ में सम्मिलित होते थे तथा संघ का अध्यक्ष संघ मुख्य होता था। महाभारत में इन्हें लोकेश्वर कहा गया है। महाभारत से कुछ वृहत संघों के विषय में जानकारी मिलती हैं। उदाहरणतयाः अन्धक, वृष्णि, भोज, यादव एवं कुकुर गणों का एक संघ था। इसके प्रमुख श्रीकृष्ण थे। पंचगणाः तथा सप्तगणाः का अर्थ सम्भवतः पाँच गणराज्यों एवं सात गणराज्यों के संघ से था। सभापर्व में लोहित नामक व्यक्ति को दस मण्डल राज्यों का प्रधान कहा गया है। इससे आभास होता है कि यह दस राज्यों का संघ रहा होगा।

संघ राज्यों के संविधान के विषय में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य अन्धक-वृष्णियों के इतिहास से विदित होते हैं। शान्तिपर्व में नारद एवं कृष्ण का संवाद इस दृष्टि से विशेष जानकारी देता है। नारद अन्धक वृष्णियों के वृहत् संघ के अध्यक्ष कृष्ण से कहते हैं :

'जो महान् नहीं है, जिसने अपने मन को वश में नहीं किया है तथा जो योग्य सहायकों से सम्पन्न नहीं है, वह यह भार नहीं वहन कर सकता है। ...... बुद्धि, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह और धन, वैभव के परित्याग के बिना कोई भी व्यक्ति गण अथवा संघ को अपने अधीन नहीं रख सकता है।'[23]

प्रस्तुत विवेचन से संघमुख्य के अपेक्षित गुणों पर प्रकाश पड़ता है। संघ राज्यों के अन्तर्गत आने वाले गणराज्यों के कुछ अध्यक्षों की पारस्परिक कटुता तथा संघमुख्य द्वारा सभी गणराज्यों को एकता के सूत्र में बाँधे रखने के कठिन दायित्व पर महाभारत के कुछ अंशों से प्रकाश पड़ता है। यादव, कुकुर, भोज, अन्धक एवं वृष्णि गणराज्यों के संघ में दो मुख्य दल थे जिनके नेतृत्वकर्ता आहुक एवं अक्रूर थे। ये दल संघमुख्य श्रीकृष्ण की भी आलोचना करते रहते थे। श्रीकृष्ण इससे दुखी थे। उन्होंने नारद से अपनी व्यथा कही। नारद से इसका समाधान करते हुए बताया :

'दूसरों के गुणों को स्वीकार कर उनका यथायोग्य सत्कार करना, सहनशक्ति, क्षमा, मार्दव और अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें निरन्तर अन्न भोजन देते रहना। जो बन्धु-बान्धव जन बोलने की इच्छा रखते हैं उनके कटु तथा निम्न वचनों पर तुम उनके हृदय, वाणी तथा मन को शान्त करने का प्रयत्न करो। ... बुद्धिमत्ता, सहिष्णुता, इन्द्रियसंयम एवं त्याग ये ऐसे गुण हैं जिनके

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कोई भी प्राज्ञ अपने पद पर स्थिर नहीं रह सका। ... हे कृष्ण तुम ऐसे कार्य करो, जिनसे तुम्हारे बन्धु-बान्धव विनाश से बचे रहें। तुम भविष्य नीति, वर्तमान नीति, युद्धनीति, तथा षाडगुण्य के प्रयोग में निपुण हो। यादव, कुकुर, भोज एवं समस्त अन्धक वृष्णि जन तथा उनके स्वामी तुम पर आश्रित हैं।'[24]

सर्वथा स्पष्ट है कि संघमुख्य अपने सद्गुणों द्वारा ही गणराज्यों में एकता बनाए रख सकता था। इनके अतिरिक्त गणराज्यों की सफलता के मूल आधारों पर भीष्म के विचारों से प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार ज्ञान वृद्धों को सम्मान देना, परस्पर सहयोग एवं सद्भावना रखना, धर्मानुसार न्याय करना, नई पीढ़ी को शिक्षित एवं विनयशील बनाना, राजकीय कार्यों में विशेषकर चर, मन्त्र एवं कोष पर विशिष्ट ध्यान रखना, राज्य सेवा में सुयोग्य व्यक्तियों को ही नियुक्त करना तथा उन्हें यथोचित सम्मान देना, शस्त्र एवं शास्त्र दोनों का समुचित ज्ञान प्राप्त कराना मानवीय दुर्बलताओं यथा– क्रोध, लोभ, मोह, वैर आदि कारणों के उत्पन्न होते ही उनका शमन करना आदि पर ही गणराज्यों का अस्तित्व एवं विकास निर्भर करता है।

पाद टिप्पणियां

1. 'संघ' शब्द के अर्थ के लिए द्रष्टव्य वासुदेवशरण अग्रवाल कृत 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' 'अष्टाध्यायी का सांस्कृतिक अध्ययन), प्रथम संस्करण, पृ० 430-31।
2. आर० जी० भण्डारकर के अनुसार पाणिनि की तिथि 700 ई० पू० है जब कि ए० मैक्डोनेल इसे 500 ई० पू० मानते हैं।
3. श्रीराम गोयल (संपादक) - मागध साम्राज्य का उदय, पृ० 77)।
4. श्रीरामगोयल, वही, पृ० 79।
5. 'लिच्छिविकव्रजिकमल्लकमद्रककुकुरपाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः' –अर्थशास्त्र, 11/1।
6. श्रीराम गोयल, 'प्राचीन भारत का इतिहास' (320 ई० तक) पृ० 117।
7. तथ्य निच्चकालं रज्जं कारेत्वा वसंतानं येव राजूनं।
   सत्त सहस्सानि सत्त सतानि सत्त च राजानो होति। तत्तकायेव उपराजानो तत्तका भंडागारिका।
   –जातक, 1,504।
8. श्रीराम गोयल, मागध साम्राज्य का उदय, पृ० 65।
9. अल्तेकर, होमेज टु वैशाली, पृ० 69।
10. नोच्च मध्य वृद्ध ज्येष्ठानुपालिता। एकैक एव मन्यते अहं राजा अहं राजेति। न च कस्यचित् शिष्यत्वमुपगच्छति।
   -ललित विस्तर 3, 23
11. वेसालिनगरे गणराजकुलानां अभिसेक पोक्खरणाम्' –जातक 4.148।
12. श्रीराम गोयल, मागध साम्राज्य का उदय, पृ० 67।
13. योगेन्द्र मिश्र, एन अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैशाली, पृ० 150।
14. श्रीराम गोयल, वही. पृ० 68।
15. श्रीराम गोयल वही., पृ० 68-69।
16. श्रीराम गोयल, मागध साम्राज्य का उदय, पृ० 70।
17. जात्याचसदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा। –शान्तिपर्व 108.30।
18. महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय 107।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

19. अकस्मात्क्रोधमोहभ्यां लोभाद्वापि स्वभावजात्।
अन्योऽन्यं नाभियावन्ते तत्पराभवलक्षणम्।।
-महाभारत शान्तिपर्व 107/30।
20. प्रेम कुमारी दीक्षित, महाभारत में राज्य व्यवस्था, पृ॰ 260।
21. धर्मनिष्ठान् व्यवहारान् स्थापयन्तश्च शास्त्रत:।
यथावत्प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमा:।।
- शान्तिपर्व, 107.17।
द्रष्टव्य देवीदत्त शुक्ल, प्राचीन भारत में जनतन्त्र, पृ॰ 89।
22. वही, 107.21।
23. शान्तिपर्व, 82, 20-22 विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य प्रेम कुमारी दीक्षित, वही पृ॰ 262।
24. शान्तिपर्व, 81, 13.31 द्रष्टव्य सत्यकेतुविद्यालंकार प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ॰ 83।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

10

कुछ प्रमुख राजवंशों की शासन पद्धतियां

1. मौर्य शासन पद्धति

चौथी एवं तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में भारत के विशाल क्षेत्र को एकता के सूत्र में आबद्ध रखने का श्रेय प्रमुखत: मौर्य वंश के तीन प्रमुख शासकों–चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार व अशोक को है। उस युग में भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा गंधार तक दक्षिणी सीमा कर्नाटक तक तथा पूर्व में अशोक के काल में उड़ीसा तक विस्तृत थी। इतने विशाल साम्राज्य को सुचारू रूप से संचालित कर पाना राज्य–व्यवस्था की श्रेष्ठता पर ही निर्भर करता था। मौर्य शासन–व्यवस्था के विषय में जानकारी के प्रमुख स्रोत मेगस्थनीज के विवरण, कोटिल्य का अर्थशास्त्र, एवं अशोक के अभिलेख हैं। अन्य स्रोतों में दिव्यावदान, मुद्राराक्षस, रुद्रदामन का जूनागढ़ लेख उल्लेखनीय है। मेगस्थनीज की इण्डिका अप्राप्य है। बाद के यूनानी लेखकों स्ट्रैबो, एरियन, डायोडोरस आदि ने 'इण्डिका' के कुछ अंश उद्धृत किए हैं जिन्हें शावनकेक ने संकलित किया, तथा मैक्रिण्डल ने उनका अंग्रेजी अनुवाद किया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है किन्तु अधिकांश विद्वान इसे मौर्य युग की कृति मानते हैं।

मौर्य साम्राज्य अनेक प्रान्तों मे विभक्त था। अशोक के लेखों में तक्षशिला, उज्जैन, तोसिल (तोषाली), सुवर्णगिरी नगरों का उल्लेख है जो उसकी प्रांतीय राजधानियाँ रही होंगी। तक्षशिला उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रान्त की राजधानी थी। उज्जैन मध्य प्रान्त की राजधानी थी, जिसे सिंहली बौद्ध ग्रन्थ महावंश में अवन्ति रठ (अवन्ति राष्ट्र) कहा गया है। तोसलि कलिंग राज्य की राजधानी थी तथा सुवर्णगिरी सम्भवत: दक्षिणी प्रान्त की राजधानी थी। सामान्यतया प्रान्तपति के रूप में राजकुमारों अथवा राजा के अत्यन्त विश्वस्त व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी। बिन्दुसार के समय अशोक उज्जैन का शासक था। बाद में तक्षशिला में अपने बड़े भाई सुसीम के स्थान पर शासक नियुक्त किया गया था। अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को तक्षशिला में राजा के प्रतिनिधि के रूप में शासक नियुक्त किया था। रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख से आनर्त्त एवं सुराष्ट्र के मौर्य शासन के अन्तर्गत होने का प्रमाण मिलता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में यहाँ का प्रान्तीय शासक वैश्य पुष्यगुप्त तथा अशोक के काल में यवनराज तुषास्फ था।[1] वैश्य पुष्यगुप्त ने चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में सुदर्शन नामक जलाशय का निर्माण करवाया था और अशोक के समय तुषास्फ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ने उसमें से नहरें निकलवाईं। जूनागढ़ लेख का यह विवरण मौर्य राजाओं की प्रजा के प्रति कल्याण की भावना का प्रतीक है तथा उनके अधिकारियों की कार्यदक्षता का परिचय देता है।

मौर्य साम्राज्य की केन्द्रीय राजधानी पाटलिपुत्र थी। मेगस्थनीज के विवरण के अनुसार यह नगर गंगा तथा एरनबाओस (सोन) नामक नदियों के संगम पर बसा हुआ था। नगर आयताकार क्षेत्र में बसा था जिसकी लम्बाई 80 स्टेड (साढ़े नौ मील) और चौड़ाई 15 स्टेड (एक मील बारह सौ सत्तर गज) थी। नगर की सुरक्षा के लिए चारों ओर एक खाई (परिखा) थी जो 6 प्लेथ्रा (200 गज) चौड़ी और 30 क्यूबिट (लगभग 60 फुट) गहरी थी।[2] नगर की चहारदीवारी में 570 बुर्ज तथा 64 द्वार थे। सम्भवत: इन बुर्जियों पर खड़े होकर मौर्य सैनिक राजधानी की रक्षा का दायित्व पूर्ण करते थे। यूनानी विवरण के अनुसार पाटलिपुत्र नगर के निर्माण में मुख्यत: लकड़ी का प्रयोग किया गया था। पटना के निकट किए गए उत्खनन में भूतल से दस से पन्द्रह फुट तक की गहराई में लकड़ी की दीवार के अवशेष मिले हैं, जिन्हें विद्वानों ने पाटलिपुत्र नगर की मौर्य युगीन दीवार का अवशेष माना है। विशिष्ट सुरक्षा से रक्षित चन्द्रगुप्त मौर्य की दिनचर्या अत्यन्त व्यस्त रही होगी। मेगस्थनीज[3] के अनुसार :

'राजा दिन में नहीं सोता। केवल युद्ध के समय ही नहीं बल्कि विवादों के निर्णय हेतु वह राजप्रासाद से निकलता है। ऐसे अवसरों पर वह दिन भर सभा में रहता है और इस कार्य में विघ्न नहीं पड़ने देता चाहे इस बीच में उसे अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की ओर ध्यान देने का समय क्यों न आ जाए।'

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा की व्यस्त दिनचर्या का विस्तृत विवरण दिया है। दिन और रात्रि का समय आठ-आठ भागों में विभाजित कर लगभग डेढ़-डेढ़ घण्टे की अवधि में राजा के अनेक कार्यों का विवरण अर्थशास्त्र में वर्णित है। इसमें संगीत की ध्वनि के साथ सोकर उठना, धर्म के आदेशों (शास्त्रम्) तथा अगामी दिनों के कार्यों पर विचार करना, नीति सम्मत योजनाएं निर्धारित करना तथा गुप्तचरों को तदनुसार भेजना, पुरोहित, राजगुरु आदि का आशीर्वाद प्राप्त करना (स्वस्त्यायन), चिकित्सक, पाकशाला के पदाधिकारियों एवं ज्योतिषियों से भेंट, राजदरबार में बैठकर सैनिकों एवं वित्तीय परामर्शदाताओं के विचार सुनना, प्रजाजनों से राजदरबार में मिलना, भोजन, धर्मग्रन्थों का अध्ययन, मंत्रिपरिषद् से मन्त्रणा, सैन्य व्यवस्था का निरीक्षण, मनोरंजन आदि सम्मिलित हैं।[4]

अशोक के लेखों से भी उसकी व्यस्त दिनचर्या प्राणीमात्र के कल्याण तथा प्रजा के प्रति पुत्रवत् भाव की पुष्टि होती है।[5] अतिशय व्यस्त मौर्य शासकों की सुरक्षा का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा होगा। स्ट्रैबो के अनुसार राजा की अंगरक्षा का भार स्त्रियों को सौंपा गया था।[6] कौटिल्य के अनुसार राजा प्रात:काल जब शय्या से उठता है तो सर्वप्रथम धनुषबाण से सुसज्जित स्त्रियों के दल (स्त्रीगणैर्धन्विभि:) उसका स्वागत करते हैं। सम्भवत: चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में यवन अंगरक्षिकाओं को उनकी शक्ति तथा कर्तव्यनिष्ठा को दृष्टिगत रखते हुए नियुक्त किया जाता था।

विशाल मौर्य साम्राज्य के सुचारू रूप से संचालन में राजकीय आदेशों की अतिशय महत्वपूर्ण भूमिका थी। इन राजाज्ञाओं को लिपिबद्ध करने हेतु योग्य लेखकों की नियुक्ति की जाती थी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कौटिल्य के अनुसार सुयोग्य लेखक में विचारों की अभिव्यक्ति निम्नांकित निम्न गुणों का समावेश आवश्यक है :

1. विषय वस्तु की सुचारु व्यवस्था (अर्थक्रम),
2. तर्कानुकूलता (सम्बन्ध),
3. अभिव्यक्ति की पूर्णता,
4. कर्णप्रिय शब्दों का प्रयोग (माधुर्य),
5. भाषा की शालीनता (औदार्य),
6. अभिव्यक्ति की स्पष्टता।

लेखक को देश की विभिन्न प्रथाओं का ज्ञान होना चाहिए। उसमें अमात्यों की सी योग्यता होनी चाहिए। कौटिल्य के इस विवरण की पुष्टि अशोक के अभिलेखों से भी होती है जिन्हें वह 'धम्मलिपि' की संज्ञा देता है।

राधाकुमुद मुखर्जी[7] के अनुसार – 'राज्य के शासन के लिए जो सामान्य तन्त्र निर्धारित था उसके निम्नलिखित अंग होते थे – (1) सार्वभौम शासक, (2) सार्वभौम शासक के प्रतिनिधियों के रूप में उप-राजाओं की हैसियत से काम करने वाले कुमार (वाइसराय) तथा राज्यपाल, (3) अमात्य, (4) विभागाध्यक्ष, (5) अधीन राजसेवक, (6) ग्राम प्रशासन चलाने वाला कर्मचारी, तथा (7) प्रशासन की वह शाखा, जो सेना के सभी विभागों का काम देखती थी।

मन्त्री

कौटिल्य के अनुसार राजत्व की गाड़ी एक चक्र से नहीं चलती। अत: राजा को चाहिए कि वह सुयोग्य कर्मचारियों की नियुक्ति कर उनके परामर्शों को हृदयंगम करे।[8] प्रथमत: ये अमात्य सामान्य विभागों (अधिकरणों में नियुक्त किए जाते थे। तदुपरान्त राजा अपने मन्त्रियों एवं पुरोहितों की सहायता से उनकी परीक्षा लेता था। ये परीक्षाएं चार प्रकार की थीं– धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा, तथा भयोपधा। जो अमात्य धर्म परीक्षा में निष्णात सिद्ध होते थे उन्हें धर्मस्थ (दीवानी न्यायालय) तथा कण्टकशोधन (फौजदारी न्यायालय) सम्बन्धी कार्यों में नियुक्त किया जाता था। जो अर्थ परीक्षा में उत्तीर्ण होते थे उन्हें समाहर्ता (टैक्स कलैक्टर) तथा सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) पदों पर आसीन किया जाता था। अन्त:पुर की रक्षा एवं विलास स्थलों की देखरेख हेतु कामोपधा परीक्षा में उत्तीर्ण अमात्य नियुक्त किए जाते थे। भयोपधा परीक्षा में उत्तीर्ण अमात्य अंगरक्षक पद पर नियुक्त किए जाते थे। सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण अमात्यों की नियुक्ति मन्त्री पद पर की जाती थी। जो अमात्य सभी परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण हो जाते थे उन्हें खानों, जंगलों आदि के श्रमसाध्य कार्य हेतु नियुक्त किया जाता था।[9] इस विवरण के अनुसार कौटिल्य ने मन्त्री को अमात्य की अपेक्षा उच्चतर माना है। दिव्यावदान में बिन्दुसार के 500 अमात्यों का उल्लेख मिलता है।

राजा की सहायता हेतु सुयोग्य मन्त्रियों की नियुक्ति के लिए कौटिल्य ने विस्तार से अपने मत व्यक्त किए हैं। व्यावहारिक दृष्टि से राजा को आवश्यकतानुसार मन्त्रियों की संख्या निर्धारित करनी चाहिए। इनसे परामर्श करते समय मन्त्रगुप्ति पर विशेष ध्यान देना आवश्यक माना गया है। मन्त्रियों की सभा को 'परिषद्' कहा जाता था। मन्त्रिपरिषद् के अध्यक्ष को 'मन्त्रिपरिषदाध्यक्ष'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कहा जाता था। जिस भवन में परिषद् की सभा होती थी उसे 'मन्त्रभूमि' कहते थे। मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को वेतन 12000 पण था।[10] अशोक के छठे शिलालेख में उसकी परिषद् में होने वाले विचारों के आदान-प्रदान का उल्लेख है।[11] मन्त्रिपरिषद् में सभी मन्त्रियों की उपस्थिति अपेक्षित थी। परिस्थितिवश यदि कोई मन्त्री उपस्थित नहीं हो पाता था तो वह अपना मत लेख द्वारा भेज देता था। एक मत न होने पर निर्णयों में बहुमत को स्वीकार करना अभीष्ट था। इन सब के अतिरिक्त राजा को अधिकार था कि यदि राज्य के हित में अल्पमत की नीति उपयोगी हो तो उसे स्वीकार करना चाहिए।[12] वस्तुत: कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सुदृढ़ शासन हेतु राजा को असाधारण अधिकार प्रदान किए गए हैं।

कौटिल्य के विवरण से प्रतीत होता है कि मन्त्रियों की विशाल परिषद् के अतिरिक्त राजा के अतिशय विश्वासपात्र एवं सुयोग्य मन्त्रियों की एक लघु समिति का अस्तित्व भी था जो प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। इनसे मन्त्रणा करते समय भी राजा अत्यन्त सावधानी बरतता था। तीन या चार मन्त्रियों से एक साथ मन्त्रणा करने को कौटिल्य ने श्रेष्ठ माना है। उसने उच्चतम पद पर नियुक्त अधिकारियों का वेतन निर्धारित करते समय ऋत्विक, आचार्य, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता और पटरानी के साथ मन्त्री को भी अड़तालीस हजार पण दिए जाने की व्यव्नस्था की है। सम्भवत: यह प्रधान मन्त्री का वेतन रहा होगा। दिव्यावदान की परम्परानुसार चन्द्रगुप्त का प्रधानमंत्री स्वयं कौटिल्य अर्थात् विष्णु गुप्त था, बिन्दुसार का प्रधानमंत्री खल्लाटक एवं अशोक का प्रधानमंत्री राधगुप्त था।[13] मौर्य प्रशासन में पुरोहित का स्थान अत्यन्त श्रेष्ठ था। कौटिल्य के अनुसार राजा को पुरोहित का उसी प्रकार अनुसरण करना चाहिए जैसे शिष्य गुरू का, पुत्र पिता का या भृत्य स्वामी का करता है।[14]

प्रशासन विभाग एवं पदाधिकारी – मेगस्थनीज के विवरण से ज्ञात होता है कि प्रशासनिक अधिकारियों के निम्न तीन प्रकार थे :

(i) एग्रोनोमोई (जिले के अधिकारी),
(ii) ऐस्टिमोनोई (नगर के अधिकारी),
(iii) युद्ध विभाग के कर्मचारी।

जिले के अधिकारियों का प्रमुख कार्य भूमि का निरीक्षण, पैमाइश तथा सिंचाई की व्यवस्था करना, कृषि तथा वनसम्पदा सम्बन्धी उद्योगों को प्रगति की ओर ले जाना, सड़कों का समुचित प्रबन्ध तथा दस-दस स्टेडिया ($1\frac{1}{3}$ मील) पर दूरी का संकेत देने वाला पत्थर लगवाना था।

नगर के अधिकारी पाँच-पाँच सदस्यों के छ: मण्डलों में विभाजित थे, इनके कार्य क्रमश: निम्न थे :

(i) कारखानों का निरीक्षण।
(ii) विदेश से आने वालों की देखभाल जिसमें सरायों पर पूर्ण नियन्त्रण, सहायक अधिकारियों की व्यवस्था, रोगियों की देखभाल तथा मृत लोगों की अन्त्येष्टि क्रिया सम्मिलित थी।
(iii) जन्म तथा मृत्यु का विवरण।
(iv) बाजार पर नियन्त्रण रखना।
(v) माप तथा तौल का निरीक्षण करना, तैयार माल का निरीक्षण, नई तथा पुरानी वस्तुओं की अलग-अलग बिक्री का प्रबन्ध करना।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(vi) माल की बिक्री पर दस प्रतिशत कर ग्रहण करना।

ये छ: मण्डल सामूहिक रूप से जननिर्माण कार्यों, कीमतों, बन्दरगाहों तथा मन्दिरों की आम देखभाल करते थे।[15] वस्तुत: यूनानी लेखक स्ट्रेबो एवं एरियन के विवरणों से ज्ञात होता है कि नगर तथा सेना के निरीक्षण का दायित्व अत्यन्त योग्य एवं विश्वस्त व्यक्तियों को दिया जाता था। मेगस्थनीज ने कौन्सिलर्स तथा असेसरों का उल्लेख किया है जो मौर्य साम्राज्य के उच्च अधिकारी रहे होंगे। यूनानी विवरणों के कौन्सिलर्स का समीकरण कौटिल्य द्वारा वर्णित अमात्यों से किया जा सकता है।

न्याय व्यवस्था – मौर्य प्रशासन में दो प्रकार के न्यायालय थे :

(i) कण्टकशोधन (फौजदारी सम्बन्धी),

(ii) धर्मस्थीय (दीवानी न्यायालय)।

दोनों न्यायालयों में तीन-तीन न्यायाधीश एक साथ बैठकर न्याय करते थे।[16] कण्टकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश को 'प्रदेष्टा' कहते थे। धर्मस्थीय न्यायनयों के न्यायाधीश को 'धर्मस्थ' कहा जाता था। वास्तविक अपराधी का पता लगाने हेतु गुप्तचरों की सहायता ली जाती थी। अपराध की स्वीकारोक्ति हेतु अपराधी को पीड़ित (कर्मपात:) भी किया जाता था। कोड़ा लगाना, उल्टा टांग देना, पानी में डाल देना, हाथ-पैर बाँधना, जाड़े में घास पर सुलाना, शरीर तपाना आदि का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है। न्यायालयों के कार्यकर्त्ताओं को अनुचित कार्य करने पर दण्ड का भागी होना पड़ता था। स्वयं न्यायाधीश भी अनुचित निर्णय देने, न्याय में विलम्ब करने अथवा किसी पक्ष को अधिक समर्थन देने पर अर्थदण्ड के भागी होते थे।

दीवानी न्यायालय प्रजा की सुविधा हेतु राज्य के विभिन्न भागों में कार्य करते थे। अर्थशास्त्र में इनकें संग्रहण (दस ग्रामों के बीच का नगर), द्रोणमुख (चार सौ ग्रामों के बीच का नगर), स्थानीय (आठ सौ ग्रामों के बीच का नगर) तथा जनपद सन्धि (जहाँ दो जिले परस्पर मिलते थे) के नगरों में होने का विवरण मिलता है।

मेगस्थनीज के विवरण के अनुसार झूठी गवाही देने पर अंग-भंग की सजा दी जाती थी। प्राय: अपराधी का वहीं अंग काटा जाता था जिसको काटने का उस पर आरोप होता था। मेगस्थनीज ने 'इन्सपेक्टरों' का उल्लेख किया है जिनका कार्य राज्य में होने वाली घटनाओं का ज्ञान रखना तथा राजा को उनसे अवगत कराना था। वे राज्य की घटनाओं का पता लगाने हेतु वेश्याओं की सहायता लेते थे। सैनिकों की गतिविधियों पर भी वेश्याओं द्वारा दृष्टि रखी जाती थी। स्ट्रेबो के अनुसार इस पद पर अत्यन्त योग्य एवं विश्वसनीय व्यक्ति नियुक्त किए जाते थे। सम्भवत: यूनानी विवरणों के 'इन्सपेक्टर' का तात्पर्य गुप्तचरों से था। कौटिल्य ने गुप्तचरों को 'गुढ़पुरुष' की संज्ञा दी है तथा इनके प्रकारों एवं कार्यों का विस्तृत विवेचन किया है।

आय-व्यय – अर्थशास्त्र के दूसरे अधिकरण के छठे अध्याय में राज्य की आय-व्यय का विस्तृत विवेचन किया गया है। आय के स्रोत निम्नलिखित थे[17] – दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज और वणिकपथ। दुर्ग के अन्तर्गत नगरों से होने वाली आय सम्मिलित थी जैसे शुल्क या चुंगी, अपराधियों से लिए गए जुमनि की राशि, विविध प्रकार के कार्य करने वालों से लिया गया कर जैसे–सुरा कर, तेल कर, सुवर्णकारों से लिया जाने वाला कर। 'राष्ट्र' के अन्तर्गत जनपदों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

से होने वाली आय सम्मिलित थी।[18] राज्य की भूमि से होने वाली आय, धार्मिक स्थलों पर लगा विशेष कर, ग्राम से होने वाली आय, नदियों के पुलों के पथ कर, चरागाहों आदि से आय सम्मिलित थी।

खनि से आय विभिन्न धातुओं को खानों से होने वाली राजकीय आय थी। यह सम्भवतः आय का महत्वपूर्ण साधन था। उद्यानों तथा शाक-सब्जी के खेतों से होने वाली आय को सेतु कहते थे। व्रन भी राजकीय आय के साधन थे। व्रज से तात्पर्य पशुओं से होने वाली आय से था। वणिकपथ दो प्रकार के थे– स्थलपथ एवं जलपथ। इनसे राज्य को आय होती थी। इनके अतिरिक्त भी राजकीय आय के स्रोत थे।

राजकीय आय का बड़ा भाग राजकर्मचारियों के वेतन तथा मौर्यों की विशाल सेना पर व्यय किया जाता था। शिक्षा के प्रसार, सार्वजनिक हित के कार्य, दान, उद्योगों के प्रोत्साहन तथा सार्वजनिक आमोद-प्रमोद पर व्यय होता था। अशोक के लोखों से विदित होता है कि प्रजा के कल्याण एवं अनुरंजन को उसने अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया था।

सैन्य व्यवस्था – मौर्यों की विशाल सेना के सम्बन्ध में प्लिनी का कथन है कि उसकी सेना में छः लाख पैदल सैनिक, तीस हजार अश्व एवं नौ हजार हाथी थे। प्लिनी ने रथो का उल्लेख नहीं किया है। मुखर्जी के अनुसार कम-से-कम नन्द की सेना जितने ही, अर्थात् चार-चार घोड़ों द्वारा चालित आठ हजार रथ रहे होंगे।[19] एरियन के अनुसार 'प्रत्येक रथ पर सारथी के अतिरिक्त दो सैनिक तथा प्रत्येक हाथी पर महावत के अतिरिक्त दो धनुर्धर रहते थे।

कौटिल्य ने 'सांग्रामिक' तथा 'पुरपुराभियानिक' अर्थात् शत्रु के दुर्ग पर आघात करने वाले रथों का उल्लेख किया है। मेगस्थनीज के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना के प्रबन्ध हेतु तीस सदस्यों की एक महासमिति थी। इनमें पाँच-पाँच सदस्य छः उपसमितियों के रूप में सेना के विभिन्न अंगों का कार्य देखते थे[20]। ये निम्न प्रकार थे :

(i) प्रथम समिति नौसेना का प्रबन्ध करती थी।
(ii) दूसरी समिति बैलों की सहायता से सैनिकों के उपयोग की सामग्री जैसे रसद, अस्त्र-शस्त्र, पशुओं हेतु चारे आदि एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजती थी।
(iii) तीसरी समिति पैदल सेना के लिए थी।
(iv) चौथी समिति अश्व सेना हेतु थी।
(v) पाँचवीं समिति रथ सेना के लिए थी।
(vi) छठी समिति हस्ति सेना का प्रबन्ध करती थी।

मेगस्थनीज के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते समय रथों को बैल खींचते थे। रथों में अश्वों को न जोतकर उन्हें रस्सियों से पकड़कर युद्धभूमि में ले जाया जाता था ताकि वे युद्ध में चुस्ती से भाग ले सकें। यूनानी विवरणों के अनुसार हाथी और घोड़े भारतीय सेना के मुख्य अंग थे। युद्धोपयोगी होने के कारण उन्हें राजकीय सम्पत्ति समझा जाता था।

कौटिल्य ने सेना के निम्न छः वर्गों का उल्लेख किया है :

(i) मौल अथवा राजा की पैतृक सेना।
(ii) भृतक – राजा द्वारा नियुक्त वैतनिक सैनिक।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

(iii) श्रेणी – व्यापारिक संगठनों द्वारा रखी गयी सेना।
जो आवश्यकता पड़ने पर राज्य की सेवा करती थी।

(iv) मित्रबल – मित्र राज्य की सेना।

(v) अमित्रबल – वह सेना जो पहले शत्रुपक्ष की थी।

(vi) अटवीबल – वन्य प्रदेशों की जंगली जाति के लोगों की सेना।

कौटिल्य के वर्णन से सैन्य अधिकारियों के नामों तथा उनके कार्यों पर प्रकाश पड़ता है। सेना में शीर्षस्थ महासेनापति था जिसका वेतन 48000 पण था। उसे सभी प्रकार के आयुधों के प्रयोग में दक्षता प्राप्त होती थी। वह चतुरंग बल (हाथी, रथ, अश्व और पैदल) के समुचित संचालन में निपुण होता था। महासेनापति के बाद नायक होता था जिसके नीचे दस सेनापति होते थे। अभियान पथ में सेना हेतु उपयुक्त स्कन्धावार के निर्माण का दायित्व नायक का था। नायक के बाद सेना के चारों अंगों के पृथक्-पृथक् अध्यक्ष होते थे। सेना का एक अधिकारी पदिक था जिसके नेतृत्व में 10 हाथी, 10 रथ, 50 अश्वारोही एवं 200 पैदल सैनिक होते थे[21]।

'एरियन' के अनुसार पैदल सैनिकों में धनुर्धरों के धनुष उनके कद के बराबर होते थे। उनके बाणों के प्रहार इतने तीव्र होते थे कि उन्हें ढाल या कवच रोक नहीं पाते थे। कुछ पैदल सैनिकों के हाथों में शूल होता था। कुछ पैदल सैनिकों के पास तलवार रहती थी। प्रस्तुत विवरणों से प्रतीत होता है कि मौर्यों का सैन्यबल अत्यन्त सशक्त था और वे किसी भी आक्रमण को निष्फल करने हेतु तत्पर रहते थे।

दौत्य सम्बन्ध

(i) यूनानी राजा सेल्यूकस नाइकेटर द्वारा भेजा गया दूत मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त मौर्य के राजदरबार में लगभग 303 ई० पू० में आया था।[22]

(ii) स्ट्रैबो के विवरण के अनुसार सीरिया के यूनानी राजा एण्टिओकस सोटेर द्वारा भेजा गया दूत डाइमेकस बिन्दुसार के दरबार में आया था (लगभग 280 ईसा पूर्व)। यूनानी लेखक 'एथीनियस' के अनुसार बिन्दुसार ने एण्टिओकस को लिखा था कि वह उसके लिए मीठी शराब, सूखे अंजीर तथा एक दार्शनिक खरीद कर भेज दे। यूनानी राजा ने उत्तर दिया कि वह अंजीर एवं शराब तो भेज देगा किन्तु यूनान में दार्शनिकों को बेचना विधि सम्मत नहीं है।

(iii) प्लिनी ने उल्लेख किया है कि मिस्र के राजा टॉल्मी फिलाडेल्फस द्वितीय ने डायोनिसिस नामक राजदूत पाटलिपुत्र भेजा था। मिस्र का यह राजा अशोक का भी समकालीन था। अशोक के तेरहवें शिलालेख में उसका उल्लेख मिलता है।

यद्यपि बिन्दुसार के राज्यकाल के विषय में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती, तथापि अनुमानतः वह राज्य एवं राजतन्त्र को स्थिर रखने में समर्थ रहा होगा। वस्तुतः चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा संस्थापित विशाल साम्राज्य की शासन-व्यवस्था को कतिपय सुधारों के साथ अशोक ने संचालित किया। अशोक के लेखों से एक ओर उसके अधिकारियों, युक्त, प्रादेशिक, रज्जूक, पुरूष, व्रचभूमिक, स्त्र्यध्यक्षमहामात्र, धर्ममहामात्र आदि के उल्लेख

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

मिलते हैं तो दूसरी ओर वह स्वयं अपनी प्रजा के कल्याण के कार्यों में निरन्तर रुचि लेता हुआ अभिलिखित है। आटविक जातियों की शक्ति से भी वह परिचित था। उन्हें वह अपने क्षेत्र में शासन करने की स्वायत्तता प्रदान करता है, किन्तु शिलालेख तेरह में वह कहता है कि वे अपनी अधिकार सीमा का उल्लंघन करने पर दण्ड के भागी होंगे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अशोक सर्वथा सक्षम सम्राट् था जिसने नीति एवं धर्मानुसार शासन के संचालन का दायित्व वहन किया था।

2. सातवाहन शासन पद्धति

मौर्य साम्राज्य के पतन के उपरान्त उत्तर भारत में शुंगों तथा अनेक गणतन्त्रों का अभ्युदय हुआ। शकों की अनेक शाखाओं ने पंजाब, सौराष्ट्र, मथुरा तथा उज्जैन में अपने राज्य स्थापित किए। लगभग तीसरी शती ई० पू० से तीसरी शती ई० के प्रारम्भ तक दकन में सातवाहनों का राज्य रहा। इस वंश के राजाओं की शासन-व्यवस्था का ज्ञान अभिलेखों, सिक्कों तथा साहित्यिक साक्ष्यों से प्राप्त होता है। इनके अभिलेख मुख्य रूप से गुफाओं और शिलाओं पर अंकित मिलते हैं। शकों तथा सातवाहनों के मध्य संघर्ष हुआ जो दीर्घकाल तक चलता रहा। फलस्वरूप सातवाहनों द्वारा शासित राज्य की सीमा का आकार भी बढ़ता घटता रहता था।

सातवाहन वंशी राजा ब्राह्मण संस्कृति के पोषक थे।[23] सातवाहन राजा गौतमी पुत्र सातकर्णि में अनेक राजोचित गुणों का समन्वय होने का उल्लेख है।[24] वह सदैव लोगों को अभयदान देने वाला, प्रजाजनों के सुख-दुख में भाग लेने वाला, धर्म से सम्पादित धन का उचित विनियोग करने वाला, द्विज एवं अन्य वर्ण के जनों की कठिनाई में उनकी सहायता करने वाला, चातुर्वर्ण्य के संकर को रोकने वाला, राज्यलक्ष्मी का अधिष्ठान कहा गया है।

लोक कल्याण के कार्यों में सातवाहन राजा पर्याप्त रुचि लेते थे। ब्राह्मणों एवं बौद्ध भिक्षुओं को दान दिये जाने के सातवाहन अभिलेखों में अनेक उल्लेख हैं। रानी नागनिका के नानाघाट गुहालेख में उल्लेख है कि सातकर्णि राजा ने दो अश्वमेध, एक राजसूय तथा अनेक श्रौत यज्ञ करके ब्राह्मणों को सहस्रों गायें, घोड़े, हाथी, रथ तथा कार्षापण दिए।[25] इस विवरण से उसकी वैदिक धर्म के प्रति आस्था तथा राज्य की समृद्धि का द्योतन होता है। गौतमीपुत्र सातकर्णि के संवत्सर 18 तथा 24 के नासिक गुहालेख कार्ले की गुफा के संवत्सर 18 के लेख, कार्ले की गुफा में वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के 7वें संवत्सर के लेख से तथा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के संवत्सर 19 के नासिक गुहालेख से बौद्ध भिक्षुओं के निमित्त दिए गए दान की सूचना मिलती है।[26] सम्भवत: सातवाहनवंशी राजाओं को ब्राह्मणों तथा बौद्धों का समुचित सहयोग मिला होगा। सम्भवत: सातवाहनवंशी राजा वासिष्ठीपुत्र सातकर्णि ने शक क्षत्रप रुद्रदामन की कन्या से विवाह किया था। रूद्रदामन के जूनागढ़ लेख में उल्लेख है कि उसने दो बार दक्षिणापथपति[27] सातकर्णि का हराकर भी जड़मूल से नहीं उखाड़ा क्योंकि वह उसका निकटवर्ती सम्बन्धी था।[28] सातवाहन ब्राह्मण थे जबकि शक विदेशी मूल के थे, अत: सामान्यत: दोनों में वैवाहिक सम्बन्ध की सम्भावना बहुत कम थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवाह राजनैतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर किया गया

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

था। यों विदेशी मूल के राजाओं को भारतीय स्मृतिकार कुछ सीमा तक क्षत्रियों की श्रेणी में रखने लगे थे। सातवाहन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सातवाहन राजा सामान्यतया राजा, स्वामी, क्षत्रप, महाक्षत्रप, महाराज एवं राजराज उपाधियां धारण करते थे। क्षत्रप एवं महाक्षत्रप उपाधि शक प्रभाव परिलक्षित करती है जबकि महाराज एवं राजराज उपाधि गौतमीपुत्र सातकर्णि ने धारण की थी।

सातवाहनों की राजधानी के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं है। देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर के अनुसार प्रारम्भिक सातवाहन शासकों की राजधानी 'धान्यकटक' (आन्ध्रप्रदेश में कृष्णा नदी के निकट धरणीकोट) थी। स्मिथ तथा बर्जेस आन्ध्रप्रदेश में स्थित 'श्रीकाकुलम' को सातवाहनों की राजधानी मानते हैं। जैन साहित्य 'कालकाचार्य - कथानक' में उनकी राजधानी 'प्रतिष्ठान' (औरंगाबाद जिले का पैठण) बतायाी गयी है। टाल्मी के विवरण से इसकी पुष्टि होती है।

साम्राज्य के सुचारू रूप से संचालन के लिए सातवाहन राजाओं ने राजकीय अधिकारियों की नियुक्ति की थी। अनेक भागों में शासन सामन्तों के माध्यम से होता था। हीरहडगल्लि ताम्रपट्ट में सातवाहनिरट्ठ (सातवाहन राष्ट्र) का उल्लेख मिलता है। बेल्लारी जिले में इस भू-भाग पर सातवाहनों ने अधिकार कर लिया था। इस प्रदेश के अधिकारी की संज्ञा 'राष्ट्रिक' थी। प्राकृत भाषा में इसके लिए 'रठिक' शब्द का प्रयोग मिलता है। इस राष्ट्र विभाग के बड़े होने पर उसके अधिकारी को महारठि कहते थे। सातवाहनों के शासन काल में महारठि एवं महाभोज बड़े जागीरदार या सामन्त थे। उन्हें अपने प्रदेश हेतु अपने नाम के सिक्के गढ़वाने का अधिकार प्राप्त था। 'सदकण कललाय महारठि' के इस प्रकार के सिक्के कर्नाटक में मिले हैं। सातवाहनों के लेखों से प्रतीत होता है कि ठाणे और कुलावा जिले में 'महाभोज' तथा नासिक और पुणे जिले में महारठि सामन्त थे।[29] समग्र साम्राज्य अनेक आहारों अथवा राष्ट्रों में विभक्त था। आहारों के अन्तर्गत नगर तथा बहुत-से ग्राम होते थे। अभिलेखों में सातवाहनिहरि, गोवर्धन, सोपारा, मामल, कापुर आदि आहारों के नाम मिलते हैं। एक अभिलेख में आहार के शासक को अमात्य कहा गया है।[30] सातवाहन अभिलेखों में अनेक उच्च राजकीय पदाधिकारियों यथा आहार के शासक, राजा के सचिव व कोष के शासक को अमात्य कहा गया है। एक सातवाहन राजा के अमात्य खदसति द्वारा तालाब व विहार का दान दिया गया था। यह उल्लेखनीय है कि इस अमात्य को 'स्थपति' भी कहा गया है।[31] 'राजामात्य' नामक अधिकारी सम्भवतः राजा के साथ रहकर राजकार्य में सहायता एवं परामर्श देते थे। 'भाण्डागारिक' भण्डारों का अधीक्षक रहा होगा।[32] कोषाध्यक्ष के लिए 'हेरणिक' शब्द का प्रयोग मिलता है। राजस्व विभाग के प्रमुख को 'रज्जुक' कहा गया है।[33] महासेनापति सेना का प्रधान था जो कभी-कभी 'अमात्य' का भी कार्य करता था। नगर की जलपूर्ति की व्यवस्था करने वाले को 'पनियधरक'[34] कहते थे। भवन-निर्माण से सम्बन्धित व्यक्ति 'कर्मान्तिक' थे।[35] भवन की रचाई करने वाला 'आवेशनिक'[36] कहलाता था। राजाज्ञा को 'लेखक'[37] लिपिबद्ध करता था। निबद्धकार के यहाँ पत्रों का निबन्धन कार्य सम्पन्न होता था। सातवाहन दानपत्रों के आधार पर विदित होता है कि इनके निर्गम की एक निश्चित प्रक्रिया थी। पहले राजा मौखिक आदेश देते थे; फिर दान सम्बन्धी विवरण बनाया जाता था। इसमें अधिकारों का स्पष्ट निरूपण किया जाता था। अन्त में राजकीय अभिलेखागार में उनका निबन्धन होता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

था। तब कहीं वह दानपत्र प्रतिग्रहीता को मिलता था।[38] शासनपत्रों की देखरेख करने वाले अधिकारी 'पट्टिकापालक' कहलाते थे। मिराशी के अनुसार प्राचीन काल में कागज के अभाव में ये प्रतिलिपियां कपड़े की पट्टियों पर (पट्टिका) की जाती थी।[39]

भूमि अनुदानों या गुफा अनुदानों से सम्बन्धित सभी राजादेशों की सूचना सातवाहन शासक अमात्यों को देते थे। जातकों में अमात्यों का उल्लेख सलाहकारों या मन्त्रियों के रूप में हुआ है, लेकिन इनके बारे में विस्तृत जानकारी कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में मिलती है, जिसमें इनका उल्लेख अधिकारियों के ऐसे संवर्ग (काडर) के रूप में हुआ है जिसमें से अन्य सभी उच्च पदाधिकारी लिए जाते थे।[40] रामशरण शर्मा के अनुसार सातवाहन राज्य व्यवस्था में अमात्यों को वही स्थान प्राप्त था जो अशोक की शासन व्यवस्था में महामात्रों को और गुप्तों की राज्यव्यवस्था में कुमारामात्यों को था।[41]

सातवाहन काल में रोमन साम्राज्य के साथ व्यापारिक सम्बन्ध अतिशय घनिष्ठ तथा आर्थिक सम्पन्नता की दृष्टि से हितकर थे। इसकी पुष्टि तत्कालीन रोमन सिक्कों से होती है जो बड़ी संख्या में विभिन्न अंचलों से प्राप्त हुए हैं। समृद्धि के वातावरण में अनेक नगरों तथा जलपत्तनों का विकास हुआ होगा। आन्तरिक उद्योग में स्थल मार्ग के साथ-साथ नदियों के तटवर्ती अंचलों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी। अभिलेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि नदी के तटवर्ती प्रदेशों के नाम सम्बन्धित नदी के नाम के अन्त में 'कट' या 'कड' शब्द संयुक्त कर बनाए जाते थे। उदाहरणतया वेणाकट, वरदाकड, करहाकड आदि। नगरों के नामों में 'पथक' शब्द जोड़ने का उल्लेख मिलता है। यथा – 'प्रतिष्ठानपथक'। मरूकच्छ (भड़ौच), कलियाण (कल्याण), चेउल अदिजलपत्तन थे।

सातवाहन लेखों में यक्ष तथा यक्षिणयों के नाम पर रखे गए कुछ ग्रामों के नाम का उल्लेख है। जैसे अजकालक नामक यक्ष के नाम पर 'अजकार्लाकिय' तथा सुदर्शना यक्षिणी के नाम पर 'सुदिसना' ग्राम का नाम था। कतिपय ग्रामों के नाम के अन्त में 'पद्र' शब्द व्यवहृत होता था। उदाहरण के रूप में – चिखलपद्र, शाल्मलीपद्र, यिसाजीपद्रक आदि।

उत्खनन के परिणामस्वरूप अनेक नगरीय अथवा अर्धनगरीय बस्तियां प्रकाश में आयी हैं। इनमें मास्की, ब्रह्मगिरि, ब्रह्मपुरी, चन्द्रवाली, कोंडापुर, बहल, संगनैकल्लु, अमरावती, नागार्जुनीकोण्ड, अरिकमेडु आदि उल्लेखनीय हैं। नगर एवं ग्राम शासन के सम्बन्ध में कतिपय बिखरे विवरणों से ही कुछ जानकारी प्राप्त होती है। नगरों के प्रबन्ध हेतु निगम सभाओं का अस्तित्व विद्यमान था। निगम का अर्थ व्यापारी है। सम्भवत: नगरों के शासन में व्यापारियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी। निगम सभाओं में नगर के प्रतिष्ठित एवं अनुभवी जनों का भी योगदान रहता होगा।[42] निगम सभा तत्कालीन प्रतिनिधि संस्था थी।

ग्राम-शासन में ग्रामणी की महत्वपूर्ण भूमिका थी। कवि 'हाल' की 'गाथासप्तशती' के अनुसार ग्रामणी का अधिकार क्षेत्र पाँच या दस ग्रामों तक भी होता था।[43] कुछ सम्पन्न स्थिति के ग्रामिकों को 'गृहपति' कहा गया है। ग्रामों की भूमि की उर्वराशक्ति का लाभ लेना अत्यन्त आवश्यक था। कुछ भिक्षु दान की भूमि का लाभ नहीं ले रहे थे। अत: उनसे भूमि लेकर पुनर्दान का उल्लेख सातवाहन लेखों में मिलता है। उदाहरणतया वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि ने बौद्ध भिक्षुओं के एक समूह

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को दिए गए ग्राम को उनसे लेकर दूसरे समूह को दिया। साथ ही उन्हें नगर सीमा पर दूसरी भूमि प्रदान की।[44] दान में दिए गए ग्रामों के विवरण में कुछ तथ्य विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं जैसे वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के संवत्सर 19 एवं 22 के नासिक गुहालेख में शाल्मलीपद्र तथा सुदर्शना ग्राम के भदायनीय भिक्षुसंघ को दिए गए ग्राम में राजाज्ञा है कि इसमें (राजसेवक) न प्रवेश करें। इसे हाथ न लगाएं। यहाँ की (भूमि) नमक निकालने के लिए न खोदें। शासन के दण्डाधिकारी हस्तक्षेप न करें। ...... आदि।[45]

प्रस्तुत अंश से स्पष्ट है कि सामान्यतया ग्रामों में राजसेवकों का प्रवेश होता था तथा दण्डाधिकारी हस्तक्षेप करते थे। अर्थात् दण्डव्यवस्था कठोर रही होगी। लेखों में चाटों और भटों का उल्लेख मिलता है, इनका समीकरण सेना और पुलिस के लोगों से किया गया है।

सातवाहन शासकों ने ब्राह्मणों एवं बौद्ध भिक्षुओं को दान देकर तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में सदाशयता का वातावरण बनाने की चेष्टा की होगी। आर्थिक दृष्टि से समृद्ध व्यापारी गण प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे होंगे।

सातवाहन शासकों के रांगे, पोटीन, ताँबे तथा चाँदी के असंख्य सिक्के प्रमुख रूप से महाराष्ट्र प्रान्त के अनेक स्थलों से तथा आन्ध्रप्रदेश एवं मध्य प्रदेश के कुछ स्थानों से प्राप्त हुए हैं। ये सिक्के सम्भवतः दैनिक जीवन में विनिमय के मुख्य माध्यम थे। वेतन के रूप में भी सिक्कों का पर्याप्त प्रयोग होता था। यज्ञ आदि अवसरों पर दक्षिणा के रूप में सहस्रों कार्षापण[46] दिए जाने के उल्लेख मिलते हैं।

सातवाहन कर-व्यवस्था की जानकारी उनके दानपत्रों में वर्णित कतिपय अंशों के अध्ययन से मिलती है। राजा की अपनी भू-सम्पत्ति होती थी।[47] गौतमीपुत्र सातकर्णि ने पश्चिमी कखड़ी ग्राम का 200 निवर्तनों का क्षेत्र भिक्षु-संघ को दान में दियाा था। व्यक्तिगत भू-स्वामित्त्व विद्यमान था।[48] यदि राजा किसी की व्यक्तिगत भूमि दान करना चाहता था तो पहले उसके स्वामी को उसका समुचित मूल्य देकर उसे खरीदना पड़ता था। धर्मशास्त्रों द्वारा विहित भूमि की उपज का 1/6 भाग, राजा कर के रूप में प्राप्त करता था। गौतमीपुत्र सातकर्णि के एक लेख में उसे धर्मानुकूल कर ग्रहण करने वाला कहा गया है।[49] दानपत्रों में परिहारों की जो सूची मिलती है उससे आभास होता है कि नमक पर राज्य का एकाधिकार था।

सातवाहन युग आन्तरिक उद्योग एवं व्यापारिक वस्तुओं के निर्यात का स्वर्ण युग था। अतः चुंगी द्वारा राजकीय आय एवं निर्यात से प्राप्त लाभ पर राजा का भाग रहा होगा। व्यापारिक श्रेणियों के निष्ठावान संगठन राज्य की समृद्धि की आधारशिला थे। वे आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से राष्ट्र के संवर्द्धन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। सातवाहन लेखों में धानिक (अनाज के व्यापारी), गान्धिक (सुगन्धित पदार्थों के व्यापारी), मालाकार, सुवर्णकार, सेलवढिक (सिलावट), औद्यान्त्रिक (जल यन्त्र चलाने वाले), तिलपिषक कुलरिक (कुम्हारों), कोलिक (वस्त्र बुनने वाले), बंसकार (बसोड़) आदि के उल्लेख मिलते हैं।[50] बैंकों के रूप में श्रेणियों की भूमिका सराहनीय थी। अक्षयनीवि पर उनकी ब्याज की अलग-अलग दरें (प्रायः 9 प्रतिशत एवं 12 प्रतिशत) थीं। ऋषभदत्त वास्तव में शासक था किन्तु उसने भी नासिक के भिक्षुसंघ को दिए जाने वाले अपने निक्षेप शासकीय अधिकोषों में न रखकर गोवर्द्धन की दो श्रेणियों में रखे थे।[51]

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सातवाहनों की राज्य व्यवस्था में मातृ-प्रधानता के दर्शन होते हैं, जबकि इससे विपरीत कालान्तर की गुप्त शासन व्यवस्था पितृ प्रधान थी। गौतमी एवं वासिष्ठी नामक राजमाताओं ने लेख लिखवाए। उन्होंने अपने पुत्रों की संरक्षिका के रूप में राज्य किया। वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के संवत्सर 19 के नासिकगुहालेख में वासिष्ठी को 'महादेवी', 'महाराजमाता' और 'महाराजपितामही' कहा गया है। गौतमीपुत्र सातकर्णि को 'अविपनमातुसुसूसा करस' अर्थात् माता की सदैव सेवा करने वाला कहा गया है। विदेशी शकों के विरुद्ध प्राय: सतत संघर्षरत सातवाहनों की राज्य व्यवस्था समृद्धि एवं सुशासन का अप्रतिम स्वरूप प्रस्तुत करती है।

3. कुषाण-शासन पद्धति

कुषाणों की शासन-पद्धति के विषय में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती। चीनी साहित्यिक साक्ष्यों, कुषाण राजाओं के अभिलेखों तथा सिक्कों पर अंकित लेखों के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इस राजवंश का प्रथम महत्वपूर्ण शासक कदफिसस प्रथम था। उसने अपने दीर्घकालीन शासन-काल के प्रारम्भ में 'यवगु' अथवा 'यौव' अर्थात् मुखिया या सरदार की साधारण उपाधि धारण की थी। उसके सिक्कों पर यूनानी राजा 'हर्मियस' अथवा रोमन सम्राट् 'आगस्टस' की आकृति अंकित मिलती है। इस आधार पर सम्भावना की जा सकती है कि प्रारम्भ में वह रोमन साम्राज्य के अधीन एक मुखिया था। क्रमश: उसने पार्थिया पर आक्रमण किया तथा तक्षशिला के प्रदेश पर विजय प्राप्त की और 'महाराज' की उपाधि धारण की।

कुषाणों के विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत वर्तमान ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, विघटन से पूर्व सोवियत संघ के कुछ भाग तथा भारत के उत्तर पश्चिम से लेकर वाराणसी या सम्भवत: पाटलिपुत्र तक के क्षेत्र सम्मिलित थे। बाह्य आक्रमणों एवं आन्तरिक उपद्रवों से साम्राज्य की रक्षा करना कुषाण-शासन के लिए बहुत बड़ी चुनौती रही होगी। शासन का केन्द्र राजा था। जिसमें समस्त शक्तियां समाहित थीं। विम कदफिसस ने महाराज, राजातिराज अथवा राजाधिराज, सर्वलोकेश्वर तथा माहेश्वर की उपाधियाँ धारण की थीं। इन उपाधियों के अतिरिक्त यूनानी भाषा में 'बेसिलियस बेसिलियोन' (राजाओं के राजा) और ईरानी में 'शाओ नानो शाओ' (परवर्ती शाहंशाह) की उपाधियां धारण की थीं। वस्तुत: यूनानी, ईरानी तथा भारतीय प्रजा के ऊपर शासन करते समय इन सभी भाषाओं में अपनी श्रेष्ठता की अभिव्यक्ति करना उनके लिए स्वाभाविक था। रामशरण शर्मा के अनुसार[52]।

'राजातिराज उपाधि से सामंती या सरदारी संगठन का संकेत मिलता है: जिसमें अनेक करदाता राज्य या सरदार शामिल थे।'

कुषाण राजा कनिष्क को 'महाराजाधिराज देवपुत्र' कहा गया है। अल्तेकर के अनुसार :

'कुषाण राजाओं की देवपुत्र पद्वी यह दिखाती है कि इस समय राजा के देवत्व की कल्पना दृढ़मूल होने लगी थी। मथुरा में कुषाणें का एक देवकुल भी था, जिसमें मृतराजाओं की बड़ी मूर्तियां रखी जाती थीं व सम्भवत: पूजी भी जाती थी। यह प्रथा इस समय रोमन साम्राज्य में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कुषाण राजाओं की अनेक मुद्राओं पर उन्हें दैवी ज्योति से आवृत्त बादलों से अवतरित होते हुए अंकित किया गया है। विमकदफिसस, कनिष्क और हुविष्क के सिक्के इसकी पुष्टि करते हैं। प्रस्तुत विवरणों के आधार पर स्पष्ट है कि कुषाण सम्राट् राजा की दिव्यता के सिद्धान्त के प्रचारक थे।

कुषाणों के सन्दर्भ में किसी भी साक्ष्य से मन्त्रिपरिषद् जैसी किसी संस्था का उल्लेख नहीं मिलता है।

महाक्षत्रप एवं क्षत्रप

कुषाणों ने शकों द्वारा प्रारम्भ की गई महाक्षत्रप एवं क्षत्रप प्रणाली को बनाए रखा। ये प्रान्तपति के रूप में सम्राट की ओर से शासन करते थे। कनिष्क के तृतीय वर्ष के सारनाथ से प्राप्त लेख में बोधिसत्व की प्रतिमा पर महाक्षत्रप खरपल्लान तथा क्षत्रप वनष्पर का नाम अंकित है। यह प्रतिमा भिक्षुबल द्वारा स्थापित करवायी गई थी।[54] कनिष्क के अठ्ठारहवें वर्ष के मणिक्याला (वर्तमान पाकिस्तान के रावलपिण्डी जिले में स्थित) प्रस्तर लेख में कुषाण वंशी क्षत्रप वेश्पसि और दण्डनायक लल का नाम मिलता है।[55] क्षत्रप वेश्पसि ने स्मारकों के निमित्त एक अनुदान अधीक्षक की नियुक्ति की थी। मणिक्याला से ही प्राप्त कांस्य मंजूषा को दान के रूप में क्षत्रप ग्रणह्यवरक के पुत्र एवं कापिशी के क्षत्रप ने दान में दिया था। ग्यारहवे वर्ष के जेडा अभिलेख में क्षत्रप लियक का उल्लेख है, जिसके सम्मान में दान दिया गया था। प्रस्तुत अंशों के आधार पर कहा जा सकता है कि कुषाण वंशी राजाओं द्वारा नियुक्त महाक्षत्रप एवं क्षत्रप उनके अपने वंश के विश्वस्त व्यक्ति होते थे। इनकी नियुक्ति प्रायः आनुवंशिक आधार पर की जाती थी। इनके अधिकारों एवं कार्यों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं मिलती है। डा॰ रामशरण शर्मा की धारणा है कि क्षत्रप सम्भवतः ग्रामों से राज-कर वसूल करते थे और ग्राम प्रधान तथा राजा के बीच की कड़ी का काम करते थे।[56] उन्होंने यह निष्कर्ष पेशावर क्षेत्र से प्राप्त एक परवर्ती खरोष्ठी लेख के आधार पर निकाला है जिसमें क्षत्रप के लिए ग्राम स्वामी पद नाम आया है।[57] दानकर्त्ताओं द्वारा क्षत्रपों के नामोल्लेख से प्रतीत होता है कि ऐसा करके वे उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करते थे अथवा दान में इन क्षत्रपों का सहयोग हो सकता है।

कुषाण राज्य-व्यवस्था में दण्डनायकों एवं महादण्डनायकों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। कनिष्क के राज्यकाल में एक दण्डनायक लल था जिसे कुषाणवंशवर्द्धक कहा गया है। यह सैनिक अधिकारी था जो राज-परिवार का ही एक सदस्य था। महाराज वासुदेव के काल के एक अभिलेख में महादण्डनायक वलिन का वर्णन है। वस्तुतः अभिलेखों में इन पदों पर कार्य करने वालों के मात्र नामोल्लेख हैं। अतः इनके प्रशासनिक दायित्व पर निश्चित रूप से कुछ भी कह पाना दुष्कर है। बैजनाथ पुरी के अनुसार उस समय के दण्डनायक राजा की ओर से जागीर पाने वाले सामन्त या सरदार होते थे।[58] इनकी नियुक्ति राजा करता था तथा इन्हें अनेक प्रकार के सैन्य एवं न्याय सम्बन्धी कार्य करने पड़ते थे। इस प्रकार शासन-व्यवस्था की सुचारुता में इनका सराहनीय योगदान था। ग्रामिक नामक अधिकारी ग्राम के मुखिया के रूप में रहे होंगे। वासुदेव के राज्यकाल से प्राप्त एक जैन अभिलेख में ग्रामिक का स्पष्ट उल्लेख है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

कुषाण-युग आर्थिक समृद्धि का युग था। विदेशी व्यापार से विशेष रूप से पर्याप्त धन अर्जित किया जाता था। कुषाण शासकों ने अपने साम्राज्य की सीमा वृद्धि के साथ-साथ शान्ति बनाए रखी। उन्होंने उच्च पदों पर अपने विश्वस्त अभारतीय मूल के लोगों को आसीन किया। अभिलेखीय साक्ष्यों से उनके द्वारा भारतीय मूल के धर्मों से सम्बन्धित दान दिए जाने के उल्लेख हैं। यह इस बात का द्योतक है कि जनमानस के धार्मिक विश्वासों के प्रति कुषाण राज्याधिकारी सहिष्णु थे। अपनी विशाल सेना, अपने कुशल प्रशासन एवं धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप कुषाण कई पीढ़ी तक राज्य करने में सफल रहे।

4. गुप्त-शासन-पद्धति

चौथी शताब्दी ई० से छठी शताब्दी ई० तक का भारतीय इतिहास गुप्त सम्राटों के उदार व्यक्तित्व, महान् पराक्रम, अप्रतिम मेधा, एवं बहुमुखी विकास की कथा कहता है। इस युग के अनेक राजा प्रज्ञा एवं शौर्य के धनी थे। गुप्त-शासन-पद्धति में सार्वजनिक हित का ध्यान रखा जाता था। साहित्यिक कृतियों, अभिलेखों, सिक्कों मूर्तियों तथा अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों एवं चीनी यात्री फाह्यान के विवरण से गुप्त-शासन पद्धति पर प्रकाश पड़ता है।

गुप्त साम्राज्य के प्रमुख सम्राट् समुद्रगुप्त, द्वितीय चन्द्रगुप्त, प्रथम कुमारगुप्त एवं स्कन्दगुप्त थे, जिनका शासन व्यवस्थित एवं विस्तृत था। आरम्भिक गुप्त वंशी राजा गुप्त अथवा श्रीगुप्त, घटोत्कच एवं चन्द्रगुप्त प्रथम के समय गुप्तों का राज्यक्षेत्र उत्तर भारत के थोड़े से भू-भाग तक सीमित था। समुद्रगुप्त ने अपनी विजयों एवं नीतियों द्वारा एक विशाल क्षेत्र पर अपना स्वत्व स्थापित किया था। प्रयाग-प्रशस्ति[59] के अनुसार अपने पिता महाराजधिराज चन्द्रगुप्त द्वारा प्रेमाश्रुओं से विकल डबडबाए हुए नेत्रों से भरी सभा में योग्य पुत्र समुद्रगुप्त का वरण किया गया था। यह गुप्तवंशी राजा द्वारा अपने राज्यकाल में अपने उत्तराधिकारी के चयन का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

प्राचीन भारतीय मान्यता में राजा को दैवी गुणों से युक्त माना जाता था। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को पृथ्वी पर देव कहा गया है (लोकधाम्नोदेवस्य)। हरिषेण ने समुद्रगुप्त की तुलना यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं से की है। (धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य)। संभवत: गुप्त युग में राजा को देवतुल्य मानने के मूल में यह धारणा निहित रही होगी कि प्रजाजन उन्हें और अधिक सम्मान दें। गुप्त राजाओं की उपाधियों से तत्कालीन सम्राटों के व्यक्तित्व की झलक मिलती है। उदाहरणतया समुद्रगुप्त की उपाधियाँ अप्रतिरथ, कृतान्तपरशु, अप्रतिवार्य वीर्य, सर्वराजोच्छेत्ता, व्याघ्रपराक्रम अश्वमेधपराक्रम, पराक्रमाङ्क, परमदैवत, परमभट्टारक महाराजाधिराज, थीं। इसी प्रकार द्वितीय चन्द्रगुप्त की उपाधियाँ श्री विक्रम, सिंह विक्रम, अजितविक्रम, विक्रमाङ्क, विक्रमादित्य उसके पराक्रम की द्योतक है तथा परमभागवत उपाधि उसकी विष्णु के प्रति आस्था की प्रतीक है। प्रथम कुमारगुप्त को अन्य उपाधियों के अतिरिक्त विशेष रूप से 'महेन्द्रादित्य' कहा गया है। स्कन्दगुप्त की विशिष्ट उपाधि 'क्रमादित्य' थी।

गुप्त युगीन स्मृतियों तथा अभिलेखों के अनुसार एक सफल शासक को गुरुजनों की सेवा,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

राजधर्मों का अध्ययन, धार्मिक आचरण एवं लोकपालों के तुल्य योग्यता से प्रजा का संरक्षण करना चाहिए। उसे राजनीतिशास्त्र पर अधिकार प्राप्त करने के लिए धैर्य का विकास तथा नेतृत्व की प्राप्ति के लिए उग्र प्रयत्न करना चाहिए।[60] अभिमानी, अधार्मिक एवं अत्याचारी राजा निन्दनीय माने गए हैं। समुद्रगुप्त ने युग एवं परिस्थितियों के अनुकूल उत्तर भारत के नौ राजाओं[61] को पराजित कर उनके साम्राज्य को अपने राज्य में मिलाकर 'प्रसयोद्धरण नीति' का पालन किया था। इसके विपरीत दक्षिण भारत के राजाओं को पराजित कर पुन: अपने राज्य का परिपालन करने की स्वतंत्रता अपनी अधीनता में देकर 'मोक्षानुग्रहनीति' का पालन किया था।[62] द्वितीय चन्द्रगुप्त ने पश्चिमीमालवा के शक क्षत्रपों को पराजित करके अपनी साम्राज्य सीमा का वर्द्धन करके उस क्षेत्र में प्रचलित शकों की रजत मुद्राओं के अनुरूप मुद्राएं प्रचलित करायीं। अपने पिता (कुमारगुप्त) की वृद्धावस्था में होने वाले पुष्यमित्रों के आक्रमण तथा विदेशी बर्बर आक्रान्ता हूणों की शक्ति से गुप्त राज्य को मुक्ति दिलाने का श्रेय स्कन्दगुप्त को है।[63] जिरक्त ने भितरी से प्राप्त अभिलेख के अनुसार, एक रात्रि युद्ध भूमि में व्यतीत की थी।[64]

प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्र के अनुसार राजा के दो कर्तव्यों प्रजापालन एवं विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा में गुप्त सम्राट समर्थ थे। संभवत: यही कारण था कि इन राजाओं का प्रभाव न केवल भारत वरन् सिंहल तथा अन्य द्वीपों तक विस्तृत था (सैंहल कादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभि:)। स्वयं को देव कहने वाले गुप्त राजा धर्मशास्त्रों में विहित आदेशों का परिपालन करते थे। गुप्त युग के राजा निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी नहीं थे। प्रजा के विभिन्न वर्गों का उन पर अंकुश रहा होगा। प्रत्यक्ष व्यवहार में मंत्रिमण्डल व उच्चाधिकारियों के हाथों में पर्याप्त सत्ता रहती थी।[65] यद्यपि शासन, सेना एवं न्याय से सम्बन्धित समस्त अधिकार राजा में केन्द्रित थे, तथापि राजा अपने अधिकारों से समाज को व्यवस्थित करने की चेष्टा करते थे। राज्य के समस्त महत्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति सम्राट् स्वयं करता था।

प्रशासन को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए कुशल, अनुभवी एवं विद्वान मंत्रियों की आवश्यकता अत्यन्त प्राचीन काल से अनिवार्य समझी जाती रही है। यद्यपि मंत्रणा से सम्बन्धित राजा के सहायकों से मंत्री, अमात्य एवं सचिव शब्दों का उल्लेख मिलता है जिनकी नियुक्ति एवं कर्त्तव्यों पर विभिन्न मत हैं। कौटिल्य[66] ने मंत्री एवं अमात्य में अन्तर स्पष्ट करते हुए मंत्री को अमात्यों की अपेक्षा उच्च स्थान दिया है। गुप्तकालीन मंत्री एवं मन्त्रिमण्डल पर विशेष सूचना का अभाव है। किन्तु अभिलेखों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि गुप्त काल के मंत्री श्रेष्ठ सेनापति भी होते थे, वे उच्च कोटि के साहित्यकार भी थे। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति का रचयिता हरिषेण उच्चकोटि का विद्वान साहित्यकार था। उसे 'सांधिविग्रहिक', 'कुमारामात्य' तथा 'महादण्डनायक' कहा गया है।[67] हरिषेण के पिता ध्रुवभूति भी गुप्त राज्य में 'महादण्डनायक' थे। सान्धिविग्रहिक का शाब्दिक अर्थ शान्ति तथा युद्ध से सम्बन्धित राजकीय कर्मचारी है। कुमारामात्य के सम्बन्ध में विद्वानों में विभिन्न मत हैं। करमदण्डा लेख में पृथिवीषेण व उसके पिता शेखरस्वामी को कुमारगुप्त का मंत्री तथा कुमारामात्य कहा गया है। कुमारामात्य का प्रयोग प्रान्तीय अधिकारियों के लिए होता था। अल्तेकर[68] के अनुसार कुमारामात्य आजकल के आई॰ए॰एस॰ के समान गुप्त साम्राज्य में भी उच्च अधिकारी थे। प्रथम कुमारगुप्त के दामोदरपुरलेख,

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बसाढ़, नालन्दा, भीटा से प्राप्त मुहरों आदि में भी कुमारामात्य शब्द का उल्लेख मिलता है। राखाल दास बैनर्जी[69] के अनुसार कुमारामात्यों की तीन कोटियां थीं – राजकुमारों के समान, उत्तराधिकारी युवराज के समान एवं सम्राट के समकक्ष। ये तीनों कोटियां बसाढ़ से प्राप्त तीन मुहरों पर अंकित अंशों के आधार पर वर्गीकृत की गयी थीं। किन्तु अभिलेखीय प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि कुमारामात्य वस्तुत: गुप्त प्रशासन का एक उच्च पद था।[70]

दीक्षितार ने गुप्तों के राज्यशास्त्रीय अध्ययन में एक नवीन परिकल्पना का आश्रय लिया है। गुप्तकालीन मुहरों पर उत्कीर्ण गज, कमल दल के मध्य खड़ी लक्ष्मी, घट से सिक्के उड़ेलते हुए दो यक्षों के अंकन को दृष्टिगत करते हुए दीक्षितार[71] का मत है कि इन सिक्कों पर उत्कीर्ण लक्ष्मी, गज एवं सिक्के उड़ेलते यक्ष गुप्त राजाओं की सम्पन्नता एवं वैभव के प्रतीक हैं। कुमारामात्य पद केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत राजकीय कोष से सम्बन्धित था। अर्थात् कुमारामात्यों का कर्तव्य धन की संवृद्धि एवं राज्य, राजा तथा राजकुमारों के धन का संरक्षण करना भी था। 'घोषाल', 'मजूमदार', 'बसाक' आदि सभी विद्वान् कुमारामात्य को उच्च पदाधिकारी मानते हैं।

गुप्त अभिलेखों में वर्णित 'महादण्डनायक' से तात्पर्य दण्ड से सम्बन्धित राजकीय कर्मचारी से प्रतीत होता है। महादण्डनायक से तात्पर्य महासेनापति से भी किया जा सकता है। गुप्त अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उस युग में मंत्रियों के पद अधिकांशत: आनुवंशिक होते थे। ध्रुवभूति व उसका पुत्र हरिषेण गुप्त राज्य के परम्परागत महादण्डनायक थे। द्वितीय चन्द्रगुप्त के सान्धिविग्रहिक मंत्री वीरसेन शाब को सचिव पद वंशपरम्परानुगत रूप से प्राप्त हुआ था। (अन्वय प्राप्रसाचिव्य:)।[72] वीरसेन शाब निपुण कवि, तर्कशास्त्र का पण्डित तथा लोकव्यवहार में दक्ष था। कुमारगुप्त का मंत्री पृथिवीषेण था और उसके पिता शिखरस्वामी द्वितीय चन्द्रगुप्त के मंत्री थे।[73] वंशपरम्परानुगत रूप में गुप्तकाल के अन्य राजकीय पदाधिकारियों के नाम भी मिलते हैं। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख में सुराष्ट्रप्रान्त के अन्तर्गत पर्णदत्त को प्रान्तपति तथा उनके पुत्र चक्रपालित को उनके अधीन उच्च पदाधिकारी कहा गया है।

प्राचीन भारतीय मान्यता में श्रेष्ठ एवं कर्त्तव्यशीलमंत्री न केवल मित्र वरन् राजा के गुरु माने गए हैं। कामन्दक[74] के अनुसार :

"सत्यं ते नैव सुहृदो गुरवो गुरवो हि ते।" अधिकांशत: गुप्त सम्राटों के मंत्री विद्वान कर्त्तव्यनिष्ठ एवं पराक्रमी प्रतीत होते हैं। सम्राट कुल परम्परा का ध्यान रखते थे। मन्त्रियों के चयन में धर्म बाधक नहीं था। सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विष्णु का उपासक था पर उसका मुख्य सेनापति 'आम्रकार्द्दव' बौद्ध था एवं 'वीरसेन शाव' शैव था जिसने उदयगिरि की पहाड़ी पर एक गुहा भगवान शिव के चरणों में अर्पित की थी। इस प्रकार गुप्त राजा साम्प्रदायिकता संकीर्णता से परे श्रेष्ठता के पारखी थे। संस्कृत साहित्य के विद्वान कालिदास गुप्त-युग की विभूति माने जाते हैं। उनके ग्रंथों में वर्णित तथ्य गुप्तकालीन जन जीवन की कथा कहते प्रतीत होते हैं। कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र' से ज्ञात होता है कि राजा मन्त्रियों द्वारा दिये गए परामर्श पर विचार करने के उपरान्त अन्तिम निर्णय लेता था।[75]

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

केन्द्रीय शासन

गुप्तकालीन केन्द्रीय प्रशासन के विषय में निश्चित सूचना का अभाव है। अभिलेखों में उल्लिखित कतिपय अंशों तथा मुहरों पर उत्कीर्ण लेखों के आधार पर इसकी रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है। राज्य की राजधानी में केन्द्रीय राजकीय कार्यालय होता था। अल्तेकर के अनुसार प्रशासन का प्रधान अधीक्षक 'सर्वाध्यक्ष' होता था, जो राजकीय आदेशों को प्रान्तों एवं विषयों (जिलों) के प्रधान राजकर्मचारियों के पास दूतों के माध्यम से भेजता था।[76] केन्द्रीय शासनालय अनेक उपविभागों, सेना विभाग, विदेश विभाग, पुलिस विभाग, माल विभाग, न्याय विभाग, धर्म विभाग, वाणिज्य विभाग आदि में विभक्त रहा होगा। इन विभागों की अपनी मुहरें होती थीं जो राजकीय आदेशों की सार्थकता का प्रमाण प्रस्तुत करती रही होंगी।

सेना विभाग प्रायः राजा या युवराज के अधीन होता था। सेना के अन्तर्गत अनेक महासेनापति होते थे। उनके नीचे महादण्डनायक होते थे।[77] मुकर्जी के अनुसार सेनानायक का पद नाम 'बलाधिकृत' था और उसके कार्यालय को 'बलाधिकरण' कहते थे। सेना के उपयोग में आने वाली सामग्री की पूर्ति की व्यवस्था रणभाण्डागारिक नामक कर्मचारी द्वारा की जाती थी। सेना में पैदल सैनिक थे तथा अश्व सेना के अधिकारी अश्वपति तथा महाश्वपति कहलाते थे। इसी प्रकार हस्तिसेना के अधिकारियों को 'पीलुपति' तथा 'महापीलुपति' कहा जाता था। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में जिन युद्धोपयोगी अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख है वे परशु, शंकु, शर, शक्ति, प्रास, असि, तोमर, नाराच, वैतसिक आदि हैं। अजन्ता की सोलहवीं व सत्रहवीं गुफाओं के चित्र-गुप्तकालीन कहे जा सकते हैं। इनमें कुछ अस्त्र-शस्त्रों के चित्र चित्रित हैं। सत्रहवीं गुफा में कुछ अश्वारोही अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित नौका में बैठकर नदी पार करते हुए प्रदर्शित किए गए हैं। कालिदास के रघुवंश में वर्णित राजा रघु के दिग्विजय प्रसंग में वर्णित सैन्य अभियान से भी गुप्त युगीन सैन्य व्यवस्था के विकसित स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। राजा तथा सैन्य विभाग के सहयोग से सान्धिविग्रहिक, अन्य सम्राटों के साथ सम्बन्धों की योजना बनाता था।

केन्द्रीय प्रशासन के अन्तर्गत पुलिस विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय 'दण्डपाशाधिकृत' था। दण्डपाशाधिकृत के कार्यालय को 'दण्डपालाधिकरण' कहते थे। बसाढ़ से प्राप्त मुहरों पर दण्डपाशिक शब्द का उल्लेख मिलता है। अल्तेकर[78] ने दण्डपाशिक को वर्तमान पुलिस सुपरिण्टेण्डेंट के समकक्ष माना है। उनके अनुसार पुलिस के साधारण सिपाही चाट व भट कहे जाते थे।

कर, धन व अन्न दोनों रूपों में लिया जाता था। वनों तथा खानों का प्रबन्ध माल विभाग के अन्तर्गत था। स्कन्दगुप्त के बिहार लेख में जंगलों के अध्यक्ष के लिए 'गौल्मिक' तथा कर सम्बन्धी अधिकारी के लिए 'शौल्किक के शब्द का उल्लेख मिलता है।

गुप्तकालीन मुहरों से ज्ञात होता है कि शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना करने वाला पदाधिकारी 'विनय स्थितिस्थापक' कहा जाता था। वाणिज्य उद्योग विभाग के अधिकारी 'द्रांगिक' कहे जाते थे। मार्गों की व्यवस्था, धर्मशालाओं आदि की व्यवस्था सम्भवतः इनके हाथों में थी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रान्तीय-शासन

शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में विभक्त किया जाता था। प्रान्तों के लिए गुप्त अभिलेखों में देश शब्द का प्रयोग मिलता है। देश के शासन के सर्वोच्च अधिकारी के लिए 'गोप्ता' शब्द का उल्लेख मिलता है। गुप्त अभिलेखों में सौराष्ट्र, मालवा तथा अन्तर्वेदी (गंगा व यमुना के बीच का प्रदेश) नामक तीन प्रान्तों का उल्लेख मिलता है। अल्तेकर के अनुसार पांचाल, कोशल, काशी, मगध, वंग इत्यादि प्रान्त भी गुप्त साम्राज्य में होंगे।[79] प्रथम कुमारगुप्त के मंदसौर लेख से ज्ञात होता है कि शुक्राचार्य और बृहस्पति के समान बुद्धिमान विश्ववर्मा गोप्ता नियुक्त किया गया था। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख के अनुसार सौराष्ट्र प्रान्त का गोप्ता पर्णदत्त समस्त श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न था। जूनागढ़ लेख[80] के अनुसार जिस प्रकार देवता वरुण को पश्चिमी दिशा का अधिपति नियुक्त करके स्वस्थ मन वाले हो गए थे उसी प्रकार स्कन्दगुप्त, पर्णदत्त को पश्चिमी दिशा का गोप्ता नियुक्त करके विश्वस्त हो गया था। इस प्रकार सम्राट द्वारा प्रान्तपति नियुक्त किए जाते थे जिनका कार्य अपने प्रदेशों की बाह्य आक्रमणों से रक्षा एवं आन्तरिक शक्ति की व्यवस्था बनाए रखना था। सार्वजनिक हित के समस्त कार्यों का दायित्व प्रान्त के अधिपति पर होता था। प्रान्त युक्तियों (कमिश्नरियों) में विभक्त थे।

बंगाल से प्राप्त कुमार गुप्त के लेखों में पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति का उल्लेख अनेक बार हुआ है। 443 ई० से 447 ई० तक पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति का राज्याधिकारी चिरातद्दत्त थे जिसे अभिलेखों[81] में 'उपरिक महाराज' कहा गया है। पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति में उत्तरी बंगाल के बोगरा, राजशाही तथा दीनाजपुर आदि जिले सम्मिलित थे। इसी प्रकार तीर भुक्ति में वर्तमान मुजफ्फरपुर तथा दरभंगा के जिले सम्मिलित थे। मगध के अन्तर्गत गया, राजगिरि तथा पाटलिपुत्र आदि सम्मिलित थे। वैशाली से प्राप्त मुद्रा में गोविन्दगुप्त का नामोल्लेख मिलता है जो प्रथम कुमारगुप्त के समय पश्चिमी मालवा का राज्यपाल था, जबकि चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय गोविन्दगुप्त तीरभुक्ति का राज्यपाल था। एक अन्यगुप्त वंशीय राजकुमार घटोत्कचगुप्त था जो पूर्वी मालवा में शासन करता था।

प्रत्येक भुक्ति में कई विषय (जिले) होते थे। विषय का अधिकारी विषयपति कहलाता था जिसकी नियुक्ति कभी-कभी सम्राट द्वारा और कभी-कभी उपरिक द्वारा की जाती थी। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि भुक्ति का प्रधान उपरिक कहलाता था। जिसे उपरिक महाराज कहा जाता था। दामोदरपुर के ताम्रलेख में पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति के अन्तर्गत कोटिवर्ष नामक विषय का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके विषयपति का नाम वेत्रवर्मा था। वेत्रवर्मा की उपाधि कुमारामात्य थी (कोटिवर्षविषये तन्नियुक्तक कुमारामात्य वेत्रवर्म्मणि)।

दामोदरपुर से प्राप्त ताम्रलेखों से ज्ञात होता है कि विषयपति का एक अधिकरण (कार्यालय) होता था जिसे अधिष्ठानाधिकरण कहते थे। वस्तुतः विषय का मुख्य नगर अधिष्ठान कहलाता था। समुद्रगुप्त के नालन्दा तथा गया से प्राप्त संदिग्ध ताम्रपत्र लेखों में क्रिमिला विषय तथा गया विषय का उल्लेख मिलता है। गया विषय के अन्तर्गत खेतिका ग्राम के दान का उल्लेख गुप्त संवत् 9 के गया ताम्रपत्र लेख में है। इसी प्रकार कुमारगुप्त के मंदसौर लेख में लाट विषय का उल्लेख मिलता है। स्कन्दगुप्त के समय के इन्दौर ताम्रपत्र लेख में गंगा-यमुना के बीच के भू-भाग

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

को अन्तर्वेदी विषय कहा गया है। इस विषय का विषयपति शर्व्वनाग था। इस प्रकार गुप्तकाल में विषयों का अस्तित्व महत्वपूर्ण था। उनके अधिकारी विषयपति का सीधा सम्बन्ध दीक्षितार[82] सम्राट से मानते हैं। यह निश्चित है कि गुप्त प्रशासन का विषयपति अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकारी था किन्तु उसका सम्बन्ध सीधे सम्राट् से होना तर्कपूर्ण नहीं प्रतीत होता क्योंकि दामोदरपुर लेख से उपरिक द्वारा विषयपति की नियुक्ति की पुष्टि होती है। गुप्त संवत् 124 के इसी दामोदरपुर लेख में विषयपति के सहयोग हेतु चार समितियों तथा उनके अधिकारियों के नाम निम्न प्रकार मिलते हैं। विषयपति वेत्रवर्मा के अधिष्ठानाधिकरण (कार्यालय) में नगरश्रेष्ठि धृतिपाल, सार्थवाह बन्धुमित्र, प्रथम कुलिक धृतिमित्र और शाम्बपाल नामक प्रथम कायस्थ थे। विद्वानों की धारणा है कि जिले के प्रधान नगर के सबसे बड़े धनपति को नगरश्रेष्ठी कहते थे। व्यापारिक समिति का अध्यक्ष सार्थवाह कहलाता था। कारीगरों के प्रतिनिधि को प्रथम कुलिक कहते थे। लेखक संघ का प्रतिनिधि प्रथम कायस्थ कहा जाता था।[83] इस प्रकार विषय का शासन गुप्तकाल में सुचारू रूप से चलता रहा होगा।

गुप्त लेखों एवं मुहरों से गुप्तकाल के नगर एवं ग्राम शासन पर भी प्रकाश पड़ता है। दशपुर, गिरिनगर, उज्जयिनी, पाटलिपुत्र आदि गुप्तकाल के महत्वपूर्ण नगर थे। नगरों को पुर भी कहा जाता था। नगर अथवा पुर के शासक को पुरपाल कहते थे। दशपुर नगर का शासक दशपुर-पाल कहलाता था। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़-लेख[84] में गिरिनगर के सुयोग्य प्रशासक पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित का उल्लेख मिलता है। वह नगरवासियों को पुत्रवत् मानता था तथा दुष्टों का दमन करने में पूर्णतया समर्थ था।

नगर प्रशासन में सहायक कुछ सभाएं होती थीं। नालन्दा की एक मुद्रा पर 'पुरिका' शब्द उत्कीर्ण है। इससे ऐसा आभास होता है कि नगर सभा की मुद्रा भी होती रही होगी। बृहस्पति स्मृति[85] में उल्लेख है कि पुर सभा नागरिकों के तथा शान्ति की व्यवस्था करती थी। अल्तेकर[86] के अनुसार नागरिक स्वाभाविक रूप से इस बात का विशेष ध्यान रखते थे कि उनके नगरों में जल का उचित प्रबन्ध हो, सुन्दर उद्यान तथा प्रभावशाली मन्दिर हों, सार्वजनिक सभाओं तथा शास्त्रार्थों के लिए विस्तृत भवन हों। अधिकांश नगर चहारदीवारी तथा खाइयों से सुरक्षित होते थे।

नगरों की व्यवस्था में स्थानीय समितियों – श्रेणी, निगम आदि का महत्वपूर्ण योगदान होता था। गुप्तकाल की व्यावसायिक समितियां श्रेणी कहलाती थीं। कुमारगुप्त के मन्दसौर लेख में कपड़ा बुनने वाली 'पट्टवाय' श्रेणी का उल्लेख मिलता है जिसने भगवान सूर्य के एक मन्दिर का निर्माण कराया था। वैशाली से प्राप्त मुहरों में श्रेष्ठि सार्थवाह-कुलिक निगम का उल्लेख मिलता है। नारदस्मृति[87] के अनुसार निगम अपने नियमों का निर्धारण स्वयं करते थे। सम्भवतः गुप्त-युग में राजा श्रेणी और निगमों के व्यक्तिगत नियमों में हस्तक्षेप नहीं करता था। ये संगठन राज्य की अभिवृद्धि में सहायक होते थे। साँची से प्राप्त गुप्तकालीन लेख से ज्ञात होता है कि 'काकनादबोट' (साँची का प्राचीन नाम) के विहार का प्रबन्ध कार्य 'संघ' तथा 'पंचमण्डली' नामक स्थानीय संगितियां करती थीं।

गुप्तकालीन ग्राम शासन के सम्बन्ध में कुमारगुप्त के दामोदरपुर लेख से ज्ञात होता है कि

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

ग्राम के मुखिया को ग्रामिक कहते थे। सम्भवत: ग्राम के आठ कुलों का विवरण रखने वाला कर्मचारी 'अष्टकुलाधिकरण' कहलाता था। भूमि सम्बन्धी नियम प्राय: निर्धारित होते थे। स्कन्दगुप्त के विहार लेख के अनुसार दान में दी गई भूमि को देख-रेख करने वाला कर्मचारी अग्रहारिक कहलाता था। जंगलों के अध्यक्ष को 'गौल्मिक' कहते थे। ग्राम सभा के सदस्य महत्तर कहे जाते थे। ये ग्राम के सम्भ्रान्त व्यक्ति होते थे ग्राम सभा को ग्राम जनपद भी कहते थे। ग्राम जनपदों की अपनी मुहरें होती थीं। ग्रामवासियों के जीवन की समस्त आवश्यक सुख-सुविधाओं पर ध्यान रखने का दायित्व ग्राम परिषदों को होता था।

राजकीय आय एवं व्यय

गुप्तकाल के राजकीय आय सम्बन्धी सर्वोच्च अधिकारी 'भाण्डागाराधिकृत्' कहे जाते थे। राष्ट्र का भूमिकर सम्बन्धी सर्वोच्च अधिकारी 'ध्रुवाधिकरण' कहलाता था। प्रमाता नामक राजकीय कर्मचारी का कार्य खेतों की माप करना था। अक्षपटलिक, महाक्षपटलिक और करणिक नामक अधिकारी भूमिकर सम्बन्धी लेखों को संग्रहीत करते थे। भूमिकर प्राय: अन्न के रूप में 1/6 से 1/4 भाग तक देना पड़ता था।[88] बंजर भूमि, वनों तथा खानों से गुप्त सम्राटों को पर्याप्त आय होती थी। भूमिकर को 'भागकर' तथा 'उद्रंग' कहा जाता था। चीनी यात्री फाहियान के अनुसार जो लोग राजकीय भूमि जोतते थे उन्हें भूमि से उत्पन्न अन्न का एक अंश देना पड़ता था।[89] कारीगरों तथा व्यापारियों को भी कर देना पड़ता था किन्तु इनका परिमाण ज्ञात नहीं है।

समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि दु:खी, असहाय जनों की सहायता एवं कलाकारों को आश्रय देने में राजा प्रचुर धन व्यय करता होगा। चन्द्रगुप्त द्वितीय का विद्या प्रेम एवं धर्मानुराग प्रसिद्ध है। उसकी राजसभा तत्कालीन उच्चकोटि के विद्वानों से संभवत: पूर्ण रहती थी।

गुप्त युगीन स्मृतियों से तत्कालीन न्यायव्यवस्था को झलक मिलती है। उदाहरणतया बृहस्पति ने चार प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है – प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित, मुद्रित, शासित। इनकी स्पष्ट रूपरेखा नहीं मिलती है पर संभावना की जाती है कि स्थायी न्यायालय प्रतिष्ठित, आवश्यकता के अनुसार स्थापित न्यायालय अप्रतिष्ठित, राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधिकारी द्वारा न्याय किए जाने वाले मुद्रित तथा स्वयं राजा द्वारा व्यवस्थित न्यायालय शासित कहलाते थे। श्रेणियों व निगमों की न्याय व्यवस्था अलग रही होगी।

वस्तुत: चीनी यात्री फाहियान[90] के वर्णन से गुप्तकालीन जन-जीवन में अपराध एवं दण्ड के विषय में जानकारी मिलती है। उसके वर्णन के अनुसार – प्रजा सुखी है। गुरुतर अपराधों के लिए साधारणतया अर्थदण्ड दिया जाता है। राजद्रोह करने तथा उसे बार-बार दोहराने पर केवल दाहिना हाथ काट लिया जाता है। सम्पूर्ण देश में जीव वध नहीं होता। चाण्डालों को छोड़कर लोग मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करते।

गुप्त युग में नगरों के राजकीय न्यायालय 'धर्मासनाधिकरण' कहे जाते थे। न्यायव्यवस्था से सम्बन्धित अधिकारियों के नाम दाण्डिक, चौरोद्धरणिक, दण्डपाशिक आदि मिलते हैं। कालिदास[91] के अनुसार राजा के कुछ न्याय कार्य (धर्माधिकार) करने वाले अधिकारी भ्रमण करते हुए देखते

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

थे कि प्रजा निर्विघ्न रूप से कार्य कर रही है या नहीं। 'मृच्छकटिक' से गुप्तकालीन न्याय-व्यवस्था पर महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इस ग्रन्थ के अनुसार नगर के न्यायालय को 'अधिकरणमण्डप' कहा जाता था और न्यायाधीश को 'अधिकरणिक' कहा जाता था। अधिकरणिक को शास्त्रज्ञ, छल-कपट को जानने में कुशल, वाग्मी, क्रोधरहित, शत्रु एवं मित्र दोनों के लिए समान, चरित्र देखने के बाद ही उत्तर देने वाला, दुर्बलों का रक्षक, धूर्तों को दण्ड देने वाला, धार्मिक, निर्लोभ, वास्तविक रहस्य का प्रकाशक, दूसरों के हृदय के भावों को जानने में कुशल तथा राजा के क्रोध का निवारक होना चाहिए।[92]

'मृच्छकटिक' से न्यायालयों की कार्य-पद्धति पर भी प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार व्यवहार मण्डप के मुख्य द्वार के सामने एक दौवारिक नियुक्त रहता था जो दण्डनायक की अनुमति पाने पर पूछता था कि कौन लोग कार्याथी है अर्थात् मुकदमा दायर करना चाहते हैं। इसके बाद वादी न्यायालय में अपना वक्तव्य देता था। न्यायालय से सूचना मिलने पर प्रतिवादी निश्चित तिथि पर उपस्थित होता था। न्यायालयों में प्रमाण माँगा जाता था और गवाही भी ली जाती थी। तपस्वी, दानशील, कुलीन, सत्यवादी, पुत्रवान, धर्मनिष्ठ तथा धनी व्यक्तियों की साक्षी ठीक मानी जाती थी। स्त्री, बालक, वृद्ध, पाखण्डी, उन्मत्त, लूले एवं लंगड़े गवाही देने योग्य नहीं समझे जाते थे।[93]

न्यायालयों में शपथ ग्रहण करने की प्रथा थी। ब्राह्मण को सत्य, क्षत्रिय को वाहन या आयुध, वैश्य को गाय, बीज एवं सुवर्ण तथा शूद्र को सब पापों को शपथ लेनी पड़ती थी। झूठी शपथ लेना निन्दनीय था।[94]

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि गुप्त सम्राटों की शासन-व्यवस्था की सुचारुता में समुद्रगुप्त, द्वित्तीय चन्द्रगुप्त, प्रथम कुमारगुप्त व स्कन्दगुप्त का सर्वाधिक योगदान था। बाद के राजा विदेशी आक्रमणों का सामना करने में असफल दिखायी देते हैं। केन्द्र की दुर्बलता समग्र राज्य को दुर्बल बना देती है। यही कारण है कि गुप्तों की शासन व्यवस्था में स्कन्दगुप्त के बाद के उत्तराधिकारियों के समय प्रशासन छिन्न-भिन्न होने लगा।

5. हर्ष की शासन-पद्धति

बाणभट्ट द्वारा रचित ग्रन्थ हर्षचरित, चीनी यात्री ह्वेनसांग द्वारा दिए गएं विवरण, स्वयं हर्ष द्वारा रचित तीन ग्रन्थों – रत्नावली, नागानन्द एवं प्रियदर्शिका में उल्लिखित अंशों, मधुबन तथा बांसखेड़ा ताम्रपत्रों से हर्ष की शासन-पद्धति पर प्रकाश पड़ता है। बाणभट्ट एवं ह्वेनसांग दोनों को ही हर्ष का आश्रय प्राप्त था अत: उनके विवरणों में हर्ष की महानता के संदर्भ में पक्षपातपूर्ण उल्लेख होने की सम्भावना है।

'हर्षचरित' के अनुसार हर्ष लगभग पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु में शासक बना। उस समय उसके माता-पिता का शरीरान्त हो चुका था। बड़े भाई राज्यवर्द्धन तथा बहनोई गृहवर्मा की हत्या की जा चुकी थी। उत्तर भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। इस विषम परिस्थिति में अपने को संयत करते हुए उसने अपनी सैन्य शक्ति में वृद्धि की। समयोचित दृष्टि से कामरूप के राजा भास्कर वर्मा से मित्रता की, वल्लभी के राजा ध्रुवसेन के साथ सम्बन्ध सुदृढ़ किए।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

विजयों द्वारा साम्राज्य सीमा का विस्तार किया। साम्राज्य को संगठित किया। अथक श्रम करते हुए प्रजा के प्रति उदारता की नीति अपनाई। धार्मिक सहिष्णुता की भावना रखते हुए दान दिए।

साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक स्रोतों में हर्ष की उपाधियां चक्रवर्ती, देव, परमेश्वर, परमभट्टारक, परम माहेश्वर, महाराजाधिराज तथा सकलोत्रापथेश्वर आदि मिलती हैं। ह्वेनसांग ने हर्ष की दिनचर्या का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'राजा का दिन तीन भागों में विभक्त था। एक भाग में वह प्रशासन देखता तथा शेष दो भागों में धार्मिक कार्यों का सम्पादन करता था। वह इन कर्यों में थकता नहीं था वरन् उसे पूरा दिन भी छोटा लगता था।'[95] हर्ष अपने राज्य के निरीक्षण हेतु भ्रमण करता था। भ्रमण स्थलों पर फूस के अस्थायी भवन निर्मित किए जाते थे। यदि किसी नगर के निवासी नियम के विरुद्ध आचरण करते थे तो राजा उन्हें दण्ड देता था। भले लोगों को पुरस्कृत किया जाता था। चीनी यात्री के विवरण की पुष्टि बाण के हर्षचरित से होती है। बाँसखेड़ा और मधुबन के दानपत्र इसी प्रकार की यात्राओं में वर्द्धमानकोटि और कपित्थका के जयस्कन्धावारों से निर्गत किए गए थे।

मन्त्री

ह्वेनसांग के अनुसार पोनी (भण्डि) के नेतृत्व में कन्नौज के मन्त्रियों एवं राजनीतिज्ञों ने हर्ष को कन्नौज का राजमुकुट प्रदान किया था।[96] यात्री के अनुसार हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्द्धन की हत्या के लिए मन्त्री भी अप्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी थे क्योंकि उन्होंने सम्भावित आशंकाओं से उसे सचेत नहीं किया था। 'हर्षचरित' में सिंहनाद और स्कन्दगुप्त के नाम अत्यन्त विश्वासपात्र एवं शुभचिन्तक के रूप नें उल्लिखित हैं। ये क्रमशः पदाति एवं गजसेना के सेनानायक थे (गजसेनाधिकृत)। हर्ष के पिता प्रभाकरवर्द्धन के काल से ही वे शासन के अंग थे व हर्ष उनका अत्यन्त सम्मान करता था। सम्भवतः वे मन्त्रिपरिषद के सदस्य भी थे। 'हर्षचरित' में 'सान्धिविग्रहिक' (सन्धि एवं युद्ध सम्बन्धी) 'अवन्ति' का उल्लेख है। प्रशासनिक निर्णयों में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका थी।[97]

अन्य पदाधिकारी

राजा, राजदरबार तथा रनिवास की व्यवस्था हेतु अनेक पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं। 'हर्षचरित' में महाप्रतिहार, प्रतिहार, दौवारिक आदि का उल्लेख है। स्कन्धावार तथा राजमहल हेतु अलग-अलग प्रतिहार नियुक्त किए जाते थे। हर्ष के दौवारिक का नाम 'पारियात्र' था। हर्ष उसे विशिष्ट सम्मान देता था। राजभवन में राजा का निजी आवास धवलगृह कहलाता था। उसकी सुरक्षा हेतु वेत्रग्राही होते थे। चामरग्राही कञ्चुकी (अन्तःपुर की सुरक्षा हेतु नियुक्त वृद्ध ब्राह्मण) अंगरक्षक आदि के नाम भी उल्लेखनीय है। दूर तक वेग से संदेश ले जाने वाले धावकों को 'दीर्घध्वग' कहते थे। निश्चय ही ये राजा के अत्यन्त विश्वस्त अधिकारी थे। 'हर्षचरित' में उसके दरबार के प्रमुख़ अधिकारियों के नामों में 'महासन्धिविग्रहाधिकृत' 'महाबलाधिकृत' और 'महाप्रतिहार' का उल्लेख मिलता है। ये क्रमशः विदेश मन्त्री, प्रधान सेनापति एवं राजप्रसाद के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

रक्षक सैनिकों के प्रधान रहे होंगे।[98] हर्ष के ताम्रपत्र लेखों में भूमि अनुदान लेखकों के रूप में महाक्षपटलाधिकरणाधिकृत – सामन्त महाराज एवं महाक्षपटलिक-सामन्त महाराज का उल्लेख है। इन अनुदानों को कार्यान्वित करने वाले (दूतक) एक महाप्रमातार-महासामन्त का उल्लेख मिलता है।[99] महाक्षपटलिक लेखा कार्यालय का प्रमुख रहा होगा। महाप्रमातार अथवा कार्यान्वयन अधिकारियों के रूप में हर्ष ने सामन्तों का सहारा लिया होगा।

भूमि अनुदान पत्रों के विवरण के अनुसार हर्ष का साम्राज्य अनेक भुक्तियों (प्रान्तों) में विभक्त था। मधुबन ताम्रपत्रलेख में श्रावस्ती भुक्ति एवं बाँसखेड़ा ताम्रपत्रलेख में अहिच्छत्र भुक्ति का उल्लेख मिलता है। भुक्ति के अन्तर्गत अनेक विषय (जिले) थे। मधुबन लेख में कुण्डधानी विषय तथा बाँसखेड़ा लेख में अंगदीया विषय का नाम मिलता है। विषयों के अधिकारी विषयपति तथा उनके प्रधान कार्यालय को विषयाधिकरण कहा जाता था। प्रत्येक विषय में अनेक पठक होते थे जो कदाचित् आजकल की तहसीलों के समान थे।[100] प्रशासन की सब से छोटी इकाई ग्राम थी। मधुबन लेख में सोमकुण्डा ग्राम का उल्लेख है। ग्राम के मुखिया महत्तर कहलाते थे। इनका कार्य ग्राम में शान्ति बनाए रखना, राजस्व की वसूली करना तथा स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। 'हर्षचरित' में 'ग्रामाक्षपटलिक' का उल्लेख है, जो ग्राम के आय-व्यय का विवरण रखता था। सम्भवत: ग्राम महत्तर के सहयोगी अधिकारी के रूप में ग्राम शासन के समुचित संचालन में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी।

राजकीय आय एवं व्यय

सामान्य रूप से भूमि की उपज का 1/6 भाग कर के रूप में लिया जाता था। मधुबन ताम्रपत्र लेख में कर सम्बन्धी उल्लेख हैं। उदाहरणतया तुल्यमेय (तौल अथवा माप के आधार पर वस्तुओं पर लगाया जाने वाला कर), भागभोग (भूमि पर लगाया जाने वाला कर) आदि। सम्भवत: आयात की वस्तुओं पर व्यापारियों को सीमा स्थित चुंगी चौकियों पर कर देना पड़ता था। ह्वेनसांग के अनुसार नदियों के घाट पर तथा राजमार्गों पर व्यापारियों से उनके सामान पर कर लिया जाता था। वनों एवं खानों से भी राजस्व मिलता रहा होगा। 'हर्षचरित' के अनुसार समय-समय पर भेंट स्वरूप राजकीय आय होती थी। प्रथम भेंट के अवसर पर सामन्तों ने हर्ष को हाथियों की भेंट दी थी। कामरूप के राजा भास्करवर्मन ने हर्ष को हाथियों की भेंट दी थी। कामरूप के राज भास्करवर्मन ने हर्ष को अनेक वस्तुएं भेंट रूप में भेजी थीं। सैन्य प्रयाण एवं निरीक्षण यात्राओं के समय ग्राम के अधिकारी आदि हर्ष के लिए भेंट लाते थे। युद्ध में पराजित शासकों से प्राप्त सम्पत्ति भी राजयकीय आय के साधन थे। भण्डि ने मालवराज को पराजित कर घोड़ा, हाथी, सोना आदि के रूप में अपार सम्पत्ति हर्ष को अर्पित की थी। चीनी यात्री के अनुसार राजकीय आवश्यकताएं कम थीं। प्रजा से बेगार नहीं ली जाती थी। करों का भार कम था अत: प्रजाजन अपने कामों और पैतृक सम्पत्ति की रक्षा में लगे रहते थे।[101]

ह्वेनसांग के अनुसार राजकीय आय चार भागों में विभाजित कर व्यय की जाती थी :

1. एक भाग धार्मिक तथा राजकीय कार्यों में व्यय किया जाता था।
2. दूसरा भाग राजकीय अधिकारियों पर व्यय होता था।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

3. तीसरा भाग विद्वानों को पुरस्कार तथा वृत्ति देने हेतु था।

4. चौथा भाग विभिन्न सम्प्रदायों को दान देने में व्यय होता था।

यात्री के विवरण से यह स्पष्ट नहीं है कि राजकीय व्यय का अनुपात क्या था ? यह स्पष्ट है कि राजा उदार था तथा लोक कल्याण के कार्यों को प्राथमिकता प्रदान करता था। हर्ष ने नालन्दा विश्वविद्यालय को संरक्षण प्रदान किया था। उसने एक विशाल बौद्ध विहार तथा कांसे के मन्दिर का निर्माण कराया था। ह्वेनसांग ने प्रयाग के पञ्चवर्षीय दान महोत्सव का विवरण प्रस्तुत करते हुए विविध धर्मानुयायियों, निर्धनों, विद्वानों, साधकों को बड़ी मात्रा में दिए जाने वाले दान का उल्लेख किया है। दान की अधिकता अतिशयोक्ति पूर्ण प्रतीत होती है।

न्याय व्यवस्था

बाण के 'हर्षचरित' में 'मनोरथाः, सर्वगताः' एवं 'रणरणकः संचारकः' शब्दों का प्रयोग मिलता है। 'संचारकः' शब्द का अर्थ घर अथवा गुप्तचर सम्भावित है। राधा कुमुद मुकर्जी ने सर्वगताः शब्द का आशय गुप्तचर माना है।[102] इस आधार पर कहा जा सकता है कि हर्ष की प्रशासन व्यवस्था में गुप्तचरों की महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी। मधुबन एवं बांसखेड़ा दानपत्रों में महाप्रमातार, प्रमातार, एवं दूतक का उल्लेख मिलता है। दूतक स्कन्दगुप्त के नाम के साथ महाप्रमातार शब्द उल्लिखित है। रमा शंकर त्रिपाठी प्रमातार को न्याय सम्बन्धी अधिकारी मानते हैं। फोगल ने इन्हें सिविल जज की संज्ञा दी है। देवहूति ने भी इसे न्यायालय से सम्बन्धित अधिकारी माना है। किन्तु घोषाल इसे भूमि मापन कार्य से सम्बन्धित मानते हैं।

ह्वेनसांग के अनुसार राजद्रोह करने पर आजन्म कारावास का दण्ड दिया जाता था। थपल्याल के अनुसार उसे कोई शारीरिक दण्ड नहीं मिलता था। पर वह समाज का सदस्य नहीं माना जाता था।[103] सामाजिक सदाचार का उल्लंघन करने, विश्वासघात करने अथवा माता-पिता के साथ अनुचित व्यवहार करने पर नाक, एक कान, एक हाथ अथवा एक पैर काट दिया जाता था, अथवा अपराधी को दूसरे देश अथवा जंगल के लिए निष्कासित कर दिया जाता था।[104] सामान्य अपराधों के लिए अर्थदण्ड की व्यवस्था थी। कुछ विशिष्ट अवसरों जैसे राजकुमारों के जन्म एवं राज्याभिषेक के अवसर पर बन्दियों के प्रति उदारता प्रदर्शित करते हुए उन्हें मुक्त करने के उल्लेख 'हर्षचरित' में मिलते हैं।

ह्वेनसांग ने अपराधों का पता लगाने हेतु चार प्रकार की दिव्य परीक्षाओं का उल्लेख किया है–(i) जल परीक्षा, (ii) अग्नि परीक्षा, (iii) तुला परीक्षा एवं (iv) विष परीक्षा। जल परीक्षा के अन्तर्गत अभियुक्त को एक बोरे में रखकर और दूसरे बोरे में एक पत्थर रखकर दोनों को रस्सी से जोड़कर नदी में डाल दिया जाता था। यदि पत्थर वाला बोरा तैरता रहे एवं दूसरा डूब जाए तो माना जाता था कि अभियुक्त ने वास्तव में अपराध किया है।

अग्नि परीक्षा में एक लोहे की चादर तपायी जाती थी। अभियुक्त को उस पर बिठाया जाता था। उसे उस पर अपनी जीभ सटानी पड़ती थी। मान्यता थी कि निर्दोष होने पर वह बच जायेगा व अपराधी होने पर जल जाएगा। तुला परीक्षा में एक विशेष पत्थर से अभियुक्त को तौला जाता

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

था। यदि पत्थर का भार कम निकलता था तो अभियुक्त को अपराधी समझा जाता था। विष परीक्षा के अन्तर्गत अभियुक्त की जांघों में एक चीरा लगाया जाता था। विष का कुछ अंश चीरे के भीतर रख दिया जाता था। यदि विष के प्रभाव से अभियुक्त मर गया तो उसने अपराध किया था, यदि बच गया तो निर्दोष था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की परीक्षाएं अन्य परीक्षाओं के साथ-साथ प्रचलित रही होंगी। विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में दिव्य परीक्षाओं के अनेकशः वर्णन प्राप्य हैं।[105] संक्षेप में कहा जा सकता है कि हर्ष की न्याय व्यवस्था में सामान्य रूप से दण्ड कम दिए जाते थे। इसका अर्थ यह नहीं कि अपराध कम होते थे। सम्भवतः अनेक राज्यों के अस्तित्व एवं सामन्ती व्यवस्था के कारण न्याय की प्रक्रिया में पर्याप्त भिन्नता रही होगी।

सैन्य व्यवस्था

ह्वेनसांग के अनुसार हर्ष की सेना के चार अंग क्रमशः पदाति, अश्वारोही, सेना, रथ सेना एवं गज सेना थी।[106] इसमें रथ सेना का प्रयोग सम्भवतः नहीं रहा होगा, क्योंकि अन्यत्र किसी भी साधन से इसकी पुष्टि नहीं होती। 'हर्षचरित' में सेना के अन्तर्गत ऊँटों का उल्लेख मिल.ा है। सम्भवतः भारवाही पशु के रूप में इनका प्रयोग होता रहा होगा। उस युग में नौ सेना के भी उल्लेख मिलते हैं। हर्ष के मित्र भास्कर वर्मा के पास नौ सेना थी। यह कहना कठिन है कि हर्ष के पास नौ सेना थी अथवा नहीं। 'हर्षचरित' के अनुसार हर्ष की सेना में हाथियों की संख्या अनेक 'अयुत' थी।[107] ह्वेनसांग के अनुसार हर्ष की सेना में साठ हजार हाथी थे। बाण ने हाथियों को फौलादी दीवार की संज्ञा दी है जो शत्रु की बाण वर्षा को झेल सकती थी।[108] उसने हर्ष के हाथी 'दर्पशात' की भूरि-भूति प्रशंसा की है। हर्ष के पिता प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु पर दर्पशात की आँखों से अविरल अश्रु प्रवाहित हुए थे। वातापी के चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय के विरुद्ध हुए संघर्ष में हर्ष की सेना में विशाल संख्या में श्रेष्ठ हाथी थे। ऐहोल लेख के लेखक रविकीर्ति ने लिखा है कि हर्ष इस युद्ध में मारे गए अपने हाथियों को देखकर हर्षरहित हो गया था।[109]

बाण ने हर्ष का अश्वसेना का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। विविध रंगों के उत्तम कोटि के अश्व भारत के अनेक अंचलों एवं विदेशों से मंगवाए जाते थे। लगभग 14-15 वर्ष की आयु में हर्ष अपनी प्रिय अश्वसेना के साथ हिमालय की तराई में आखेट हेतु गया था। बांसखेड़ा ताम्रपत्र लेख में 'हस्त्यश्वस्कन्धावार' पद का उल्लेख है।[110] बाण ने हर्ष को 'महावाहिनीपति' की संज्ञा दी है। हर्ष के सेनापति का नाम सिंहनाद था जो उसके पिता प्रभाकरवर्द्धन का भी विशेष कृपापात्र था। सेनापति के अधीन सेना के विभिन्न अंगों के मुख्य अधिकारी होते थे। हर्ष के 'गजसाधनाधिकृत' अधिकारी का नाम स्कन्दगुप्त था। गजसेना से सम्बन्धित महामात्र, आरोह, कर्पटी, लेशिक आदि का उल्लेख बाण ने किया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जीवन के आरम्भ में पारिवारिक विपत्तियों के बीच हर्ष ने धैर्य एवं संयम से अपने को संयत करते हुए सुचारू रूप से शासन किया।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

6. राष्ट्रकूट शासन पद्धति

लगभग 753 ई० से 975 ई० तक भारत के इतिहास में राष्ट्रकूटों का वर्चस्व रहा।[111] राष्ट्रकूट शासन राजतन्त्रात्मक था एवं समस्त शक्तियां राजा में केन्द्रित थीं। इस राजवंश के विशिष्ट राजाओं में ध्रुव, गोविन्द तृतीय, अमोघवर्ष प्रथम, इन्द्र तृतीय तथा कृष्ण तृतीय के नाम उल्लेखनीय हैं। राष्ट्रकूट राजाओं एवं उनके सामन्त शासकों के लेखों एवं कुछ साहित्यिक ग्रन्थों तथा सुलेमान, अबूजैद, अलमसूदी आदि अरब लेखकों के विवरणों से राष्ट्रकूटों की शासन-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। इस वंश के शासकों का अभ्युदय वातापी के चालुक्यों के पराभव के उपरान्त दृष्टिगत होता है। उनका राज्य क्षेत्र विभिन्न राजाओं की विजयों एवं पराजयों के साथ बढ़ता-घटता रहता था। महाराष्ट्र दक्षिणी गुजरात, गोवा, कर्नाटक एवं आन्ध्रप्रदेश के कुछ अंचलों पर सामान्यतया उनका अधिकार था। उत्तर भारत के समकालीन प्रतिहार एवं पालवंशी राजाओं के साथ उनके संघर्ष चलते रहते थे। दक्षिण में चोलों के साथ भी उनके संघर्ष होते थे। इन परिस्थितियों में अनुभवी मन्त्रियों, विश्वासपात्र सामन्त शासकों, बलशाली सैन्य शक्ति एवं प्रजा का सहयोग सुगठित शासन व्यवस्था के लिए अपेक्षित था।

प्राय: सभी राष्ट्रकूट राजाओं की उपाधियां 'महाराजाधिराज परमभट्टारक' थीं। प्रत्येक राजा एक विशिष्ट पदवी धारण करता था। उदाहरणत: ध्रुव की उपाधि 'धारावर्ष', कृष्ण प्रथम एवं कृष्ण तृतीय की 'अकालवर्ष', गोविन्द चतुर्थ की 'सुवर्णवर्ष', गोविन्द द्वितीय की 'विक्रमावलोक' तथा गोविन्द तृतीय की 'जगत्तुंग' थी।[112] उनका राजदरबार वैभव सम्पन्न था। राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट थी। राजा सिंहासन पर आसीन होता था। जबकि दरबार के बाहर प्रांगण में हस्तिदल, अश्वदल तथा पदाति सेना की टुकड़ियां अपने-अपने अधिकारियों के साथ उपस्थित रहती थीं। शत्रु पर विजय के फलस्वरूप जो हाथी एवं अश्व आदि प्राप्त किए जाते थे; उनका प्रदर्शन किया जात था। व्यापार की दृष्टि से अथवा अन्य किसी कारणवश पश्चिम भारत आने वाले अरब लेखकों ने राष्ट्रकूट राजाओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने राष्टकूट राजाओं के लिए 'बल्हरा' शब्द का प्रयोग किया है। सम्भवत: यह वल्लभ राज का अपभ्रंश रूप है। उनके अनुसार बल्हरा भारत का महानतम शासक था। अन्य शासक उसके प्रति श्रद्धा अर्पित करते थे।[113] राजा अपने ऐश्वर्य के अनुरूप विविध रत्नों से युक्त आभूषण धारण करते थे। उसके अंगरक्षकों का अपना दल होता था। सुसज्जित नर्तकियां अवसर के अनुरूप दरबार में नृत्य करती थीं। वरिष्ठ राजकीय अधिकारी, कवि, वैद्य, ज्योतिषी, श्रेष्ठीगण तथा गणमान्य नागरिकों को राजदरबार में समुचित स्थान प्रदान किया जाता था।

राजपद आनुवंशिक था। प्राय: ज्येष्ठ पुत्र को समुचित शिक्षा-दीक्षा के उपरान्त युवराज मनोनीत किया जाता था। इस सम्बन्ध में कई उदाहरण इसके विपरीत भी मिलते हैं। जैसे ध्रुव के चार पुत्रों में स्तम्भ सबसे बड़ा था किन्तु गोविन्द तृतीय योग्यतम था। अत: ध्रुव ने गोविन्द तृतीय को युवराज बनाया था। संतानविहीन होने पर राजपरिवार के अन्य व्यक्ति को राजपद दिए जाने का उल्लेख है। नि:सन्तान दन्तिदुर्ग के उपरान्त उसके चाचा कृष्ण प्रथम ने राज्यभार संभाला था। गोविन्द तृतीय का पुत्र अमोघ वर्ष मात्र तेरह-चौदह वर्ष की आयु में राजा बना, अल्पायु

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

होने के कारण उसके चचेरे भाई कर्क ने अभिभावक के रूप में राज्य संचालन में उसकी सहायता की थी। गोविन्द चतुर्थ अपने दुष्कृत्यों के कारण मन्त्रियों एवं सामन्तों द्वारा अपदस्थ कर दिया गया था। उसके स्थान पर उसका चाचा अमोघवर्ष तृतीय शासक बनाया गया था।

युवराज के रूप में सैन्य संचालन तथा अन्य प्रशासनिक अनुभव प्राप्त किए जाने के उल्लेख अभिलेखों से प्राप्य हैं। 770 ई॰ में वेंगी के चालुक्यों के विरुद्ध किए गए अभियान का संचालन युवराज गोविन्द द्वितीय ने किया था। प्रान्तपतियों के रूप में युवराजों की नियुक्ति की जाती थी। अपवाद रूप में अमोघवर्ष की पुत्री चन्द्रवेलब्बा रायचूर दोआब की शासिका थी।

कृष्ण तृतीय के सलोत्गी लेख से राज विद्या में पारंगत व्यक्ति को मन्त्री पद पर नियुक्त किए जाने का उल्लेख मिलता है। उसका मन्त्री नारायण राजविद्या का ज्ञाता होने के साथ-साथ श्रेष्ठ कवि भी था।[114] उसे राजा के दाहिने हाथ के समान प्रिय कहा गया है।[115] राष्ट्रकूट लेखों में प्रधानमन्त्री एवं विदेश मन्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं। सम्भवत: इनके अतिरिक्त अलग-अलग विभागों के मन्त्री भी रहे होंगे। वे मन्त्री के साथ-साथ सैनिक अधिकारी भी होते थे। ध्रुव के विदेश मन्त्री का नाम डल्ल था। उसे सामन्त का पद तथा जागीर दी गयी थी। राष्ट्रकूटों के अधीन अनेक सामन्त शासक थे। इन सामन्त शासकों के अपने मन्त्री होते थे जो सामरिक अभियानों में उनके साथ जाते थे। अमोघवर्ष प्रथम के सञ्जन लेख में एक मन्त्री का उल्लेख है जिसने इस ताम्रपत्र लेख में वर्णित अंश तैयार किए थे। सम्भवत: ताम्रपत्रों के लिखवाने का दायित्व भी मन्त्रियों का रहा होगा।

राष्ट्रकूट साम्राज्य के कुछ प्रान्तों में वहाँ के प्राचीन राजवंश के उत्तराधिकारी सामन्त के रूप में शासन करते थे। जबकि दूसरे प्रान्तों में राजा के द्वारा नियुक्त राजकुमार अथवा योग्य पदाधिकारी प्रान्तपति के रूप में शासन करते थे। दक्षिण गुजरात के सामन्तों को विशेषाधिकार प्रदान किए गए थे। वे राजा की आज्ञा के बिना ग्रामों का हस्तान्तरण कर सकते थे। अधिकांशत: सामन्तों के अधिकार सीमित थे। सामन्तों के अधीन उपसामन्त भी होते थे। राजा की आज्ञा का पालन करना, समय-समय पर राजदरबार में उपस्थित होकर राजभक्ति का परिचय देना, नियमित रूप में कर देना, सैन्य अभियानों में अपनी सेना सहित जाना आदि सामन्तों के लिए आवश्यक था। राजा उन पर दृष्टि रखता था। विद्रोही सामन्तों के पराजित होने पर उन्हें नाना प्रकार के अपमान सहने पड़ते थे।

राष्ट्रकूट साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभक्त था जिनको 'राष्ट्र' कहा जाता था। इनका भौगोलिक आकार वर्तमान कुछ जिलों के बराबर माना जा सकता है। ऐसे राष्ट्रों की निश्चित संख्या ज्ञात नहीं है पर अनुमानत: 20 या 25 राष्ट्र रहे होंगे।[116] राष्ट्र के प्रधान शासक को राष्ट्रपति कहते थे। इनमें कुछ युवराज थे तथा अनेक सैन्य विद्या में प्रशिक्षित तथा अन्य गुणों से समन्वित व्यक्ति होते थे।[117] उनका कार्य अपने क्षेत्र में शान्ति व्यवस्था बनाए रखना, छोटे सामन्तों एवं अधिकारियों पर दृष्टि रखना, राजस्व की वसूली करना, स्थानीय अधिकारों एवं विशेषाधिकारों का लेख रखना आदि थे। राष्ट्रपति के अधीन पर्याप्त संख्या में सैनिक रहते थे। वे पद में महासामन्त अथवा महामण्डलेश्वर के समकक्ष थे। प्रशासनिक कार्यों में राष्ट्रमहत्तरों की एक समिति राष्ट्रपति की सहायता करती थी।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जिलों के अधिकारी 'विषयपति' तथा तहसीलों के अधिकारी 'भोगपति' कहलाते थे। इनकी नियुक्ति राजा द्वारा उनकी प्रशासनिक योग्यता अथवा वीरता के आधार पर की जाती थी। ऐसे अधिकारियों के पुत्र यदि सुयोग्य होते थे तो आनुवांशिक रूप में उन्हें यह पद दे दिया जाता था। कभी-कभी उनकी स्थिति लघु सामन्त के समान होती थी। भुक्तियों के नाम उनके प्रधान अधिष्ठानों के नाम पर रखे जाते थे। भुक्तियों से छोटी इकाइयां भी होती थीं, जिनमें दस से लेकर तीस ग्राम तक सम्मिलित होते थे। राष्ट्रकूट लेखों में राजस्व सम्बन्धी अधिकारी को 'नाडगावुण्ड' तथा 'देश ग्रामकूट' कहा गया है। कर्नाटक में वे नाडगावुण्ड तथा महाराष्ट्र में देश ग्रामकूट कहलाते थे। इन्हें करमुक्त भूमि दी जाती थी। ये अधिकारी विषयपति एवं भोगपति को उनके कार्यों में सहायता प्रदान करते थे।

7147

राष्ट्रकूटों के नगर प्रशासन के सम्बन्ध में उनके ताम्रपत्र लेखों से अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। उनके कोनकन के शिलाहार सामन्त शासकों के लेखों में पुरपतियों अथवा नगरपतियों का अनेकश: उल्लेख मिलता है। अमोघवर्ष प्रथम के राज्यकाल में सोरटूर नगर का शासक राजा का विशेष कृपा पात्र प्रतीत होता है। उसे महासामन्त की संज्ञा दी गयी है। नगरपतियों के सहायतार्थ कुछ विशिष्ट समितियों के उल्लेख मिलते हैं। राष्ट्रकूटों के 997 ई० के एक लेख में कोनकन राज्य में गुणपुर नगर के प्रशासन में नगरपति को अम्बुश्रेष्ठि तथा बप्पैश्रेष्ठि नामक धनिक, चेलप्पैयु नामक व्यापारी एवं गोवनेय नामक ब्राह्मण द्वारा सहयोग दिए जाने का विवरण मिलता है।[118]

कृष्ण द्वितीय के राज्यकाल में ऐहोल नगर की अपनी महापालिका थी इस महापालिका की कार्यपद्धति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त नहीं है।

ग्राम राष्ट्रकूट प्रशासन की महत्वपूर्ण इकाई थे। जैसा, पहले उल्लेख किया जा चुका है, ग्राम के अधिकारी को ग्रामकूट, ग्रामपति तथा गावुण्ड कहा जाता था। ग्राम के अनुभवी, वृद्ध एवं चरित्रवान लोग प्राय: सर्वसम्मति से ग्राम पंचायतों के प्रतिनिधियों को चुनते थे।[119] ग्रामकूट पर ग्राम की शान्ति एवं व्यवस्था का दायित्व होता था। वह स्वयं युद्ध में निपुण होता था तथा उसके पास ग्रामवासियों की एक लघु सेना होती थी। राष्ट्रकूट लेखों में डाकुओं एवं अन्य आक्रमणकारियों से युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त करने वाले ग्रामकूटों के उल्लेख मिलते हैं। इससे उनकी अपने ग्राम के प्रति निष्ठा का परिचय मिलता है। ग्रामकूट, पटवारी की सहायता से ग्राम से कर वसूल करता था।

पटवारी को सेवाओं के बदले कुछ करमुक्त भूमि मिलती थी। उसकी सहायता के लिए एक लिपिक का उल्लेख मिलता है। ग्राम से सम्बन्धित महत्वपूर्ण कार्यों में ग्रामपति की सराहनीय भूमिका होती थी। ग्रामों के सरोवरों, देवालयों, मार्गों आदि की व्यवस्था हेतु ग्राम पंचों की उपसमितियों के उल्लेख मिलते हैं। ग्रामों के झगड़ों का निपटारा ग्राम पंचायतों द्वारा किया जाता था। इन्हें कार्यान्वित करने का दायित्व प्रशासन का होता था।

राष्ट्रकूट शासकों के सैन्य प्रशासन के सम्बन्ध में अभिलेख महत्वपूर्ण जानकारी देते हैं। राजा की स्थिति विजिगीषु की थी। अत: वह अपने साम्राज्य के विस्तार में तत्पर रहता था। उत्तर में हिमालय से दक्षिण में कन्याकुमारी तक तथा पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में दक्षिण गुजरात तक राष्ट्रकूटों द्वारा किए गए अभियानों के साक्ष्य मिलते हैं, जो उनकी सैन्य कुशलता के परिचायक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हैं। राष्ट्रकूटों की विशाल सेना का पर्याप्त भाग राजधानी में रहता था। उनकी सेना का एक भाग उत्तर का था जो किसी राजपुत्र के अधीन रहता था। एक भाग दक्षिण का था जो बनवासी के उपराजा के अधीन रहता था। ये सेनाएं बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा करती थीं। केन्द्रीय शासन के निर्देशन पर वे अन्य राज्यों पर आक्रमण करती थीं। राष्ट्रकूट राजा ध्रुव, गोविन्द तृतीय, इन्द्र तृतीय तथा कृष्ण तृतीय अनेक सैन्य अभियानों के लिए उत्तरदायी थे। राष्ट्रकूट सेना में प्रयुक्त होने वाले घोड़े अधिकांशतः अरब देशों से मंगाए जाते थे। स्वयं राजा गोविन्द द्वितीय को एक लेख में श्रेष्ठ घुड़सवार की संज्ञा दी गयी है।[120] मुस्लिम लेखकों के अनुसार राष्ट्रकूट राजा अपने सैनिकों को नियमित वेतन देते थे।[121] अलमसूदी के अनुसार बल्हर (राष्ट्रकूट सम्राट) के पास अनगिनत घोड़े, एवं हाथी थे। पैदल सैनिकों की संख्या सर्वाधिक थी। लेखों में सैन्य अधिकारियों के नाम महाप्रचण्ड, दण्डनायक तथा महाबलाधिकृत मिलते हैं। ब्राह्मणों एवं जैन धर्मानुयायियों के भी सेना में होने के उल्लेख प्राप्त हैं। ब्राह्मण सेनानायकों में रेवादास दीक्षित और वीसोत्तरदीक्षित सोमयाजी थे। जैन सेनापतियों में बंकेय, श्रीविजय, नारसिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रान्तीय शासकों एवं सामन्तों की सेना समय पर केन्द्रीय सेना का अंग बन जाती थी। सम्पन्न उद्योगपतियों का सैनिकों के लिए रसद प्रबन्ध में योगदान रहता था। राष्ट्रकूटों के पास हस्तिसेना भी थी। उत्तर भारत के प्रतीहार एवं पाल शासकों के साथ राष्ट्रकूटों के युद्ध हुए थे। युद्ध में मारे गए सैनिकों के परिवारों को पेंशन दी जाती थी। राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय के उत्तर भारत अभियान में उसकी पत्नी के साथ जाने का उल्लेख मिलता है।

राष्ट्रकूट शासन की आय का प्रमुख स्रोत भूमिकर था। अभिलेखों में इसके लिए 'उद्रंग' एवं 'भागकर' शब्द आए हैं। सामान्यतया भूमि की उपज पर लगने वाला कर भाग कर कहलाता था। फ्लीट तथा यू० एन० घोषाल के अनुसार उद्रंग नामक कर स्थायी किराएदारों से उपज के एक अंश के रूप में ग्रहण किया जाता था। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के 888 ई० के बेगुम्रा ताम्रपात्रों में उल्लेख है कि उद्रंगकर एक वर्ष के अन्दर तीन बार में वसूल किया जाता था। इन्हें क्रमशः भाद्रमास, कार्तिक मास एवं माघमास में लिया जाता था। मन्दिरों एवं ब्राह्मणों के निमित्त दिए गए भूमिदान या तो कर मुक्त थे या कर में छूट दी जाती थी।

राजस्व के अन्य स्रोतों में अधीनस्थ शासकों एवं सामन्तों द्वारा दिए जाने वाले कर, कतिपय आकस्मिक कर, अर्थदण्ड के रूप में प्राप्त धन, राजकीय सम्पत्ति यथा – वानों एवं खानों से प्राप्त कर सम्मिलित थे। गोविन्द तृतीय के साम्राज्य निरीक्षण के समय कर वसूल करने का उल्लेख है। कृष्ण तृतीय के सोरटूर लेख में कोयले पर लगने वाले कर का उल्लेख मिलता है। साग-सब्जियों एवं फलों पर भी कर लगाए जाते थे।

नियमित कर न देने पर सम्बन्धित व्यक्ति की भूमि शासन द्वारा अधिगृहीत कर ली जाती थी। विशिष्ट परिस्थितियों जैसे अकाल आदि पड़ने पर कर से मुक्ति अथवा छूट प्रदान की जाती थी। राष्ट्रकूट मुद्राओं में द्रम्म, सुवर्ण, गन्ध्यात्मक, कलंजु तथा कासु के उल्लेख अभिलेखों में मिलते हैं। वस्तुतः राष्ट्रकूट राजाओं को अपने साम्राज्य की रक्षा तथा राज्य विस्तार के लिए अतुलधन की आवश्यकता पड़ती रही होगी। इसके लिए प्रजा पर कर का भार अधिक हो जाता था। अल इद्रीसी के वृत्तान्त से इसकी पुष्टि होती है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

7. चोल शासन पद्धति

लगभग 850 ई० से 1270 ई० तक दक्षिण भारत में चोल वंशीय राजाओं ने राज्य किया। उनकी राज्यविधि के अनेक अभिलेख, चीनी लेखक चाड-जु-कुआ का वृत्तान्त तथा कुछ अरब लेखकों के विवरणों से चोलों के शासन प्रबन्ध पर प्रकाश पड़ता है। लगभग 993 ई० में 1070 ई० तक श्रीलंका पर भी चोलों का प्रभुत्व रहा। चोलों की सुदृढ़ नौ-सेना ने दक्षिण पूर्व एशिया के कुछ क्षेत्रों की विजय की थी। दसवीं शती ई० के अन्त एवं ग्यारहवीं शती० ई० के प्रारम्भ में राजराज चोल तथा राजेन्द्र प्रथम के राज्यकाल में चोलों की शक्ति का अतिशय प्रसार हुआ। उनकी उपलब्धि के मूल में उनकी विशाल सेना तथा सुगठित शासन पद्धति का योगदान रहा होगा। केन्द्रीय शासन के साथ ही स्थानीय प्रशासन में भी कुशलता रही होगी।

अनेक चोल राजाओं ने 'चक्रवर्तिगल', 'उदैयार', तथा 'त्रिलोक सम्राट' उपाधियां धारण की थीं। उन्हें सम्पूर्ण संसार का स्वामी कहा गया है।[122] राजकीय अभिलेखों में राजाओं के साथ-साथ रानियों का भी उल्लेख है। तेरहवीं शती० ई० में चीनी यात्री चाऊ-जु-कुआ भारत आया था, उसके अनुसार :

'राजभोजों के अवसरों पर राजकुमार और मन्त्री राजा के चरणों में नमन करते हैं, फिर सभी संगीत, गीत व नृत्य में लग जाते हैं। वह (राजा) शराब नहीं पीता, किन्तु वह माँस खाता है और जैसी कि इस देश की प्रथा है, वह सूती कपड़े पहनता है और रोटियां खाता है। अपनी मण्डली और रक्षकों के लिए वह असंख्य नर्तकियां रखता है, बारी-बारी से तीन हजार नर्तकियां इसकी सेवा में रहती हैं।[123]

चोलों की प्राचीनतम राजधानी 'उरैयूर' थी। नवीं शताब्दी ई० में चोल राजा विजयालय ने 'तञ्जावूर' तमिलनाडु में वर्तमान तंजौर) को अपनी राजधानी बनाया था। अपनी आस्था की अभिव्यक्ति स्वरूप उसने वहीं निशुम्भुसूदनी दुर्गा के एक मन्दिर का निर्माण कराया था। तंजौर विशाल वृहद्दीश्वर मन्दिर का निर्माण राजराज ने कराया था। राजेन्द्र प्रथम ने तंजौर के स्थान पर 'गंगैकोण्डचोलपुरम' नगर (गंगापुरी) को नई राजधानी बनाया था। यहीं एक विशाल जलाशय था जिस में पूर्वी भारत पर विजय के उपरान्त वहाँ से गंगा का जल लाकर उसमें मिलाया गया था। लेखों में इसे 'चोल-गंगम' की संज्ञा दी गयी है। सम्भवत: पूर्ववर्ती पल्लवों की राजधानी काञ्ची चोल आधिपत्य के बाद उपराजधानी के रूप में मान्य थी। अभिलेखों में चोलों द्वारा निर्मित अनेक शिव देवालयों उनसे लगे हुए चिकित्सालयों तथा पूर्वज प्रतिमाओं की उपासना हेतु निर्मित देवालयों के उल्लेख मिलते हैं। मन्दिरों को प्रभूत दान दिया जाता था। राज्य की अधिकांश भूमि को कृषि योग्य बनाने हेतु प्रोत्साहन दिया जाता था। सिंचाई व्यवस्था के प्रति राजा एवं प्रजाजन विशेष जागरूक रहते थे। पाठशालाओं के निर्माण, चिकित्सा के प्रबन्ध आदि में राजा, रानियां, उनके सम्बन्धी, राज्य के उच्च अधिकारी तथा समाज के सम्पन्न लोग पर्याप्त रुचि लेते प्रतीत होते हैं। अस्पताल के लिए लेखों में 'विण्णगरातुल-शालै' शब्द का उल्लेख मिलता है।

चोल राजा प्राचीन भारतीय यज्ञ एवं दान परम्परा के पोषक तथा राजगुरू के प्रति सम्मान का भाव रखते थे।[124] राजाधिराज ने अश्वमेध यज्ञ किया था। अनेक राजाओं ने हिरण्यगर्भ तथा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तुलाभार दान दिए थे। चोलराजा यद्यपि शैव धर्मानुयायी थे पर जैन पल्लियों एवं बौद्ध विहारों के प्रति उनकी नीति उदारतापूर्ण थी।

सामान्यतया चोलराजा अपने जीवनकाल में ही ज्येष्ठ पुत्र को युवराज मनोनीत करते थे। विशिष्ट परिस्थितियों में ही इसका उल्लंघन किया जाता था। प्रान्तपति के रूप में राजकुमारों की नियुक्ति को प्राथमिकता दी जाती थी। अनेक चोल राजकुमारों ने अपने पिता के शासन काल में युद्धों में भाग लिया था तथा प्रशासनिक अनुभव प्राप्त किए। चोल सम्राज्य के अनेक राजकीय अधिकारियों का नामोल्लेख अभिलेखों में मिलता है। सम्राट् के महत्वपूर्ण आदेशों को कार्यान्वित कराने के लिए ओलै (विशिष्ट अधिकारी) नामक अधिकारी होते थे। राजकीय आदेशों की विधिवत् जाँच ओलैनायगम द्वारा की जाती थी। उच्चाधिकारियों को पेरून्दरम् तथा निम्न श्रेणी के अधिकारियों को शिरूतरम् अथवा शिरूदनम कहते थे।[125] राजकीय अधिकारियों को पारिश्रमिक के रूप में जमीनें दी जाती थीं। निम्न श्रेणी के अधिकारियों को अनाज अथवा नकद वेतन दिया जाता था।

अनेक चोल लेखों के अनुशीलन से विदित होता है कि राजकीय आदेशों के कार्यान्वन की प्रक्रिया जटिल थी। तथा इसमें अनेक अधिकारियों के माध्यम से कार्य पूर्ण होता था। इसमें प्राय: काफी समय लग जाता था। उदाहरणतया राजा आदित्य प्रथम ने अपने शासनकाल के इक्कीसवें वर्ष शिर्रियार्रुर का ग्राम देवदान और ब्रह्मदेय के रूप में दिया। सम्बन्धित शासन लेख अगले वर्ष लिखा गया। बारह वर्षों बाद इसे लेखा पुस्तक में लिपिबद्ध किया गया। सम्भवत: यह स्थिति अपवाद रूप में किसी विशिष्टकारणवश रही होगी।

सुन्दर चोल के अन्विल ताम्रपत्रों में ब्राह्मण सचिव अनिरुद्ध का उल्लेख है। उसे राजा ने 10 वेलि भूमि दी थी तथा 'बाह्माधिराज' की उपाधि से विभूषित किया था। भूमि की लिखा-पढ़ी हेतु उल्लिखित विवरण के अनुसार आणत्ति नामक राजकीय अधिकारी को इसका आदेश दिया गया था। आणात्ति ने इसे श्रीमुखरम् के रूप में भेजा।[126] शेष कार्य स्थानीय निगम द्वारा किया गया। जब पूरा अभिलेख तैयार हो गया तब कई व्यक्तियों ने इसकी अभिपुष्टि की। इनके नाम नाटटुकोन, नाडूकिलवन तथा ऊरूडैयान मिलते हैं। ये स्थानीय प्रतिष्ठित जन अथवा राजकीय पदाधिकारी प्रतीत होते हैं।

वीरराजेन्द्र के तिरूमुक्कूडल अभिलेख में अनेक राजकीय अधिकारियों का उल्लेख है जिनके द्वारा एक राजकीय आदेश को लिपिबद्ध एवं अभिपुष्ट किया गया था। यह विवरण शासकीय कार्य विधि की दुरूहता प्रकट करता है। अनेक प्रसंगों में कंकाणियों (पर्यवेक्षकों) के उल्लेख मिलते हैं। ये नियन्त्रण और लेखा परीक्षा के केन्द्रीय कार्यालय की ओरं से प्रत्येक क्षेत्र में स्थानीय पदाधिकारियों पर नियन्त्रण रखते थे। दस्तावेजों में नई प्रविष्टियां करने वाले अधिकारी सम्भवत: 'वरिप्पोत्तगम' तथा 'वरियिलीडु' कहलाते थे। राजस्व विभाग के दो छोटे कर्मचारी क्रमश: 'मुगवेट्टि' एवं 'पट्टोलै' श्रेणी में आते थे।

चोलों का विशाल साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभक्त था जिन्हें 'मण्डलम' कहते थे। सम्भवत: चोलों की विस्तारवादी नीति के कारण राजेन्द्र चोल के समय प्रान्तों की संख्या सर्वाधिक रही होगी। श्रीलंका को 'मुम्मिडिचोलमण्डलम' के नाम से जाना जाता था। प्राय: राजाओं की उपाधियों

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

के नामों परमण्डलम् के नाम रखे गए थे। उदाहरणतया जयगोण्डचोल मण्डलम्, राजराजमण्डलम्, गंगैकोण्डचोलमण्डलम्, अधिराजमण्डलम् आदि। मण्डल का शासन राजा द्वारा नियुक्त प्रान्तीय शासक करते थे। ये या तो राजपरिवार के सदस्य होते थे अथवा राजा के अत्यन्त विश्वस्त व्यक्ति थे। राजकीय आदेशों को मण्डलों में पूर्णतया लागू करने का उनका दायित्व था व मण्डल की गतिविधियों को सूचना केन्द्र तक पहुँचाते रहते थे। प्रशासनिक लेखों को सुरक्षित रखना उनका कर्त्तव्य था। प्रान्तीय शासकों के अधीन बड़ी संख्या में राज्य कर्मचारी होते थे।

प्रत्येक मण्डल अनेक 'वलनाडुओं' में विभक्त था। वलनाडु को जिले की संज्ञा दी जा सकती है। प्रत्येक 'वलनाडु' में कई 'नाडु' (सम्भवतः तालुके) होते थे। नाडु कई 'कुर्रमों' (ग्राम समूहों) तथा ग्रामों में विभाजित था। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। बड़े कस्बों तथा ग्रामों की व्यक्तिगत प्रशासनिक इकाइयां 'तनियूर कुर्रम' कहलाती थीं।

चोलों की न्यायव्यवस्था में स्थानीय ग्राम सभाएं एवं अन्य स्थानीय संस्थाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं। न्यायसमितियों को 'न्यायात्तार' कहा जाता था। अनेक चोल अभिलेखों में 'धर्मासन' शब्द आया है। यह न्याय हेतु राज दरबार का प्रतीक प्रतीत होता है। धर्मासन के सम्मुख प्रस्तुत किए गए मामलों के निर्णय हेतु स्मृतियों के विद्वानों से सहायता ली जाती थी। इन विद्वानों को 'धमासनभट्ट' कहा जाता था। वादी एवं प्रतिवादी अपने-अपने पक्ष स्वयं प्रस्तुत करते थे। सम्भवतः न्याय प्रक्रिया में अभिवक्ताओं की भूमिका नहीं थी। इकरारनामे अभिलेखागारों में सुरक्षित रखे जाते थे। आवश्यकता पड़ने पर उनसे सत्यासत्य की परीक्षा दी जाती थी। सामान्य रूप से सभी अपराधों पर, चाहे अपराधी ग्राम के कर्मचारी ही क्यों न हों, ग्राम पंचायतों में विचार होता था। ग्राम पंचायत के निर्णयों से असंतुष्ट होने पर मामले को उन अधिकारियों के पास भेजा जाता था जो राजा की ओर से नाडु के प्रशासन हेतु नियुक्त होते थे। राजा के पास अन्तिम अपील हेतु जाने वाले मामलों की संख्या बहुत कम रही होगी। न्याय की प्रक्रिया का आधार स्मृतियां तथा स्थानीय रीति-रिवाज थे।

कभी-कभी दीवानी मुकदगे सुदीर्घ अवधि तक चलते थे। 'श्री कण्ठ-चतुर्वेदिमङ्गलम्' की सभा एवं 'तिरूवेरंवियूर' के ऊर के बीच काफी समय से सीमा-विवाद चल रहा था। एक स्थानीय राजा ने अधिक धन देकर विवादग्रस्त भूमि में दोनों पक्षों के अधिकार खरीद लिए। उसने वह भूमि एक स्थानीय देवालय हेतु दान में दे दी जिससे वहाँ वाद्यवृन्द के साथ मन्त्रों के पाठ की व्यवस्था की जा सके।

चोलों की दण्ड-व्यवस्था में अर्थदण्ड अधिक दिए जाते थे। चोरी जालसाजी करने वाले व्यक्ति ग्राम समितियों के सदस्य नहीं हो सकते थे। हत्या के अभियोग में अभियोगी को निकटवर्ती मन्दिरों में अखण्ड दीप प्रज्ज्वलित करने हेतु अर्थव्यवस्था करनी होती थी। ऐसे अभियोगी समाज में हीन दृष्टि से देखे जाते थे। मन्दिरों में जलते अनवरत दीप उन उपराधियों की अपराधवृत्ति के सतत प्रतीक रहे होंगे। दण्ड के सम्बन्ध में अभिलेखों में उल्लिखित कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं :

1. एक 'नाडालवान' ने धनुर्धारियों की एक रेजीमेण्ट के सेनापति की छुरा घोंपकर हत्या कर दी थी। राजा राजेन्द्र द्वितीय ने ग्राम सभा को आदेश दिया कि अभियुक्त निकटवर्ती मन्दिर में एक दीपक जलाने हेतु 96 भेडें प्रदान करें।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

2. एक ग्राम अधिकारी द्वारा प्रताड़ित की जाने वाली स्त्री ने आत्महत्या कर ली थी। लेख के अनुसार दोषी अधिकारी को 'चारों दिशाओं', 18 जिलों और विभिन्न देशों की जनता की सभा में जुमनि के रूप में 32 काशु (चोलों का स्वर्ण सिक्का) का दण्ड दिया गया। वस्तुतः अपराध की गम्भीरता को देखते हुए यह दण्ड बहुत कम था।
3. एक सिपाही ने दूसरे सिपाही की हत्या कर दी थी। अपराधी ने मृतक के सम्बन्धियों से समझौता कर लिया तथा तंजौर के निकट एक मन्दिर 'करूत्तट्टांगुडि' में एक दीपक की व्यवस्था की।
4. लगभग 1091 ई० में कुलोत्तुंग प्रथम के राज्य काल में 6 साल के एक बालक ने एक कुल्हाड़ी (अरिवाल) से लकड़ी काटते समय 7 साल के एक दूसरे बालक को घायल कर दिया। बच्चे की मृत्यु हो गयी। 6 साल वाले बालक के पिता को उसके बच्चे के अपराध हेतु मन्दिर में आधा दीपक जलाने हेतु धन देने की सजा दी गयी।
5. कुलोत्तुंग तृतीय के राज्यकाल में दो व्यक्तियों ने अपने खेत में चरने वाली भैंस को मार डाला था। इस अपराध के लिए उन्हें पड़ोस के मन्दिर में आधा दीपक जलाने की निधि का दण्ड दिया गया।
6. कुलोत्तुंग तृतीय के ही राज्यकाल में दो उपद्रवी व्यक्तियों पर ब्राह्मणों तथा मन्दिर में निवासियों को त्रस्त करने के अपराध में 1000 काशु का जुर्माना किया गया। धन अदा न करने पर उनकी जमीनें जब्त कर के मन्दिर को 1060 काशु में बेच दी गयीं शेष 60 काशु की रकम भी जुर्माना अदा न करने के अपराध में जब्त कर ली गयीं।

चोल लेखों में अपराध एवं दण्ड सम्बन्धी अनेक उदाहरण उपलब्ध है। मात्र एक अपराध के लिए मृत्युदण्ड दिए जाने का विवरण मिलता है। कर्नाटक के हुलिमद्द के एक अभियुक्त को चोट पहुँचाने तथा हत्या के अभियोग में 'नाट्टराज' (न्यायाधीश) द्वारा मृत्युदण्ड दिया गया था।

केन्द्रीय शक्ति के दुर्बल होने पर अपराध बढ़ते हैं। राजराज तृतीय के राज्यकाल में पशुओं की चोरी की घटनाएं एवं राजद्रोहों की संख्या में वृद्धि हुई इसका एक उदाहरण यह है कि मंगलम् (सेलम जिला) के देवदान के साथ यह आज्ञा जारी की गयी थी कि जो लोग 'देवदान' की पशु सम्पत्ति का हरण करेंगे या ग्राम को किसी प्रकार की क्षति पहुँचायेंगे उनकी सम्पत्ति छीनकर मन्दिर को दे दी जायेगी।

चाऊ-जु-कुआ ने चोलों की न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध में लिखा है :

'जब कोई किसी अपराध का दोषी पाया जाता है तब राजा का एक मजिस्ट्रेट उसे सजा देता है, यदि अपराध छोटा हुआ तो उसे एक लकड़ी के चौखटे से बाँधकर 50, 70 या 100 तक डंडे मारते हैं। जघन्य अपराधों के लिए अंग भंग की सजा दी जाती है या फिर हाथी के पैरों तले कुचलवा देने की प्रथा है।[127]

दण्ड सम्बन्धी प्रस्तुत विवरण से कठोर दण्ड की व्यवस्था का संकेत मिलता है। इसके विपरीत अभिलेखों में, जैसा कि ऊपर उल्लिखित किया गया है, नरम दण्ड-व्यवस्था के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

चोल साम्राज्य की आय का मूल आधार भूमिकर था। यह नकद एवं अनाज, दोनों रूपों में

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लिया जाता था। इसके अतिरिक्त भवन-कर, सीमाशुल्क, चुंगी, विविध व्यवसायों पर लगाए गए कर, खानों की उपज, वन-सम्पदा, नमक आदि से राजकीय आय होती थी। बेगार (वेट्टि या विष्टि) भी ली जाती थी। नियमित करों एवं उगाहियों के साथ-साथ स्थानीय संस्थाएं भी कर वसूल करती थीं। उदाहरणतया 922 ई० के एरोडे के एक अभिलेख में उल्लेख है कि पूरे नाडु की जनता ने एरोडे के एक विष्णु मन्दिर में कृष्ण की पूजा हेतु प्रत्येक घर से 1/2 पणम्, प्रत्येक विवाह में वर, और वधू दोनों पक्षों से 1/8 पणम्, प्रत्येक श्मशान से एक मंजाडि और एक कुन्रि सोना शुल्क के रूप में लिया था। 922 ई० में ही बाहरनाड के गडेरियों ने अपने समाज के प्रत्येक विवाह के अवसर पर पेरूमाल (विष्णु) के एक मन्दिर हेतु एक भेड़ देना निश्चित किया था। यदि कोई भेड़ न देता तो 'गणप्पेरूमक्कल' (कार्यसमिति) एवं 'देवरडियार' (देवालय के कर्मचारी) को अधिकार था कि वे उससे बलपूर्वक दो भेड़ें छीन लें।

भूमि की उर्वरा शक्ति तथा फसलों के परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए कर की दर का निर्धारण होता था। कई चोल शासकों जैसे राजराज प्रथम तथा कुलोत्तुंग प्रथम ने भूमि सर्वेक्षण करवाया था। इससे कर के पुनर्मूल्यांकन में सुगमता हो जाती थी। चोल लेखों से भूमि की 12 किस्मों के विवरण प्राप्य हैं। तिरूमंगलम् (तंजौर) के एक लेख के अनुसार शासकीय लेखों में लिखित भू-स्वामित्व एवं वास्तविक भू-स्वामित्व में अन्तर को देखते हुए पुन: भू-सर्वेक्षण किया गया था। राजराज के राज्यकाल में सम्भवत: सर्वाधिक भूमिकर उपज का 1/3 भाग था। राजाधिराज के एक लेख के अनुसार कुछ भूमि पर प्रति वेलि 28 कलम और दूसरी भूमि पर 19 कलम 'एरि' देय थी। प्राय: प्रत्येक ग्राम में कुछ भूमि कर मुक्त होती थी। इसे 'इरैयिल' कहते थे। राजराज के तंजौर लेख से विदित होता है कि मन्दिर, तालाब, ग्राम से होकर जाने वाली नहर, चाण्डालों की बस्तिया (परैच्चेरि), शिल्पियों के भवन (कमाणच्चेरि) तथा श्मशान भूमि (शुडू-काडु) आदि पर कर नहीं लगता था। कुम्हार, लोहकार, बढ़ई, स्वर्णकार, तथा रजक के घरों की काणि (कर) माफ थी। चोल लेखों में कर सम्बन्धी ऐसे अनेक शब्दों का उल्लेख है जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं है। जब कि अनेक शब्दों जैसे आयम (राजस्व) इरै (कर) मरून्पाडु तथा दण्डम् (अपराधों के लिए मिलने वाला अर्थ दण्ड), कडमै (शुल्क), कुडिमै (लगान) शित्तायम तथा शिल्लिरै (अनेक लघु वसूलियाँ) के अर्थ स्पष्ट हैं। राजस्व विभाग के लेखा रजिस्टर के लिए चोल लेखों में 'वरित्पोत्तगककणक्क' शब्द आया है। अनेक करों में कुछ का उल्लेख निम्न प्रकार है :

1. प्रत्येक उपयोगी वृक्ष पर लिया जाने वाला कर 'मरमंजाडि' कहलाता था।
2. ग्राम की चौकीदारी के शुल्क को 'पाडिकवल' कहते थे।
3. मनैइरै गृहकर था।
4. सुपारी के वृक्षों पर लगाए जाने वाले कर को 'कडमै' कहते थे।
5. बढ़ई, स्वर्णकार, लुहार तथा कुम्हारों से लिए जाने वाले कर को मगन्मै कहते थे।
6. दुकान पर लगने वाला कर कडैइरै था।
7. आजीवकों पर लगाया गया कर 'आजीवक्काशु' कहलाता था।

कर न देने पर शारीरिक यातना दिए जाने के उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणतया 1001 ई० में ब्रह्मदेयम – महेन्द्रमंगलम की सभा ने कर अदा न करने वाले लोगों को पानी में डालने

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

तथा धूप में खड़ा करने के दण्ड का प्रावधान किया था। करों की वसूली में केन्द्रीय हस्तक्षेप के विवरण मिलते हैं। राजराज के राज्यकाल में ब्राह्मणों, श्रमणों, तथा वैखानसों से कुछ गाँवों ने ग्राम सभा को कर देने में ढील दिखाई तब राजा ने हस्तक्षेप करके ग्राम सभा को कर ग्रहण करने के लिए अधिकृत किया। कर न देने पर भूमि नीलाम कर दी जाती थी तथा सम्पत्ति कुर्क कर दी जाती थी। कभी-कभी मन्दिरों को भी अपनी जमीनें बेच देनी पड़ती थीं।

चोलकालीन प्रजा असामान्य करों का विरोध भी करती थी। राजकीय आय का अधिकांश भाग राजदरबार के ऐश्वर्य, अन्त:पुर, राजकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों के वेतन, सैन्य व्यवस्था एवं लोक कल्याणकारी कार्यों पर व्यय किया जाता था। चोल कालीन मन्दिरों को होने वाली आय का अधिकांश भाग वहाँ की जनता के हित में व्यय किया जाता था।

चोलों का सैन्य संगठन अत्यन्त सुदृढ़ था। सेना के तीन प्रमुख अंग थे :

1. हस्ति सेना (लेखों में इसके लिए 'अनैचाट्कल' तथा 'कुंजिरमल्लर' शब्द आए हैं।
2. अश्व सेना (कुडिरेच्चेवगर)।
3. पैदल सेना (इसके लिए 'कैक्कोलार' शब्द आया है।)

इसका एक अर्थ अपने बाहुबल के लिए प्रसिद्ध मनुष्यों का समूह है। धनुर्धरों को 'विल्लिगल' तथा असिधरों (तलवार धारण करने वालों) को 'वाल्पेर्रकैक्कोलूर' कहते थे। 'वेलैक्कारर' राजा की सेवा में रहने वाले सर्वाधिक विश्वसनीय सैनिक होते थे। वे अपने प्राणों की आहुति देकर राजा की रक्षा करते थे।

1178 ई० के एक चीनी यात्री के अनुसार चोलों की सेना में हाथियों की संख्या साठ हजार थी। हाथियों पर बैठकर सैनिक दूर तक बाणों की वर्षा करते थे। निकट से वे भालों से लड़ते थे। विजय प्राप्त करने पर हाथियों को आदरसूचक नाम दिए जाते थे। उनकी अश्व सेना में चुने हुए अरबी घोड़े थे। लेखों में घोड़ों के व्यापारियों (कुडिरैच-चेट्टियों) का वर्णन मिलता है। चोलों की अनेक रेजीमेण्टों के नाम मिलते हैं। प्रत्येक रेजीमेण्ट का एक सामूहिक जीवन होता था। वे न केवल युद्ध भूमि में अपनी वीरता का परिचय देते थे वरन् सामाजिक कार्यों जैसे दान देना, देवालयों का निर्माण कराना आदि में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। तिन्नवेली जिले में अम्बासमुद्रम के निकट तिरूवालीश्वरम् से प्राप्त चोलों के एक तिथिरहित अभिलेख में एक रेजीमेण्ट का पूर्ण इतिहास उत्कीर्ण है। सैन्य उपलब्धियों के विवरण के आधार पर यह लेख राजराज एवं राजेन्द्र चोल के समय का प्रतीत होता है। सेना द्वारा विष्णु एवं शिव की पूजा किए जाने के उदाहरण मिलते हैं।

चोलों के पास एक शक्तिशाली नौ सेना थी जिसके द्वारा राजराज एवं राजेन्द्र चोल ने श्रीलंका तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक द्वीपों पर विजय प्राप्त की थी।[128] चेरों के समुद्री बेड़े को कण्डलूरशालै में नष्ट कर दिया था। नौ सेना में अनेक प्रकार की नावें और जहाज रहे होंगे। चोल नौ सेना से कोरोमण्डल तथा मलाबार तटों की रक्षा हुई तथा बंगाल की खाड़ी को चोलों की झील की संज्ञा दी गयी है। चोल नौ सेना सम्भवत: युद्धों में भाग लेने के साथ-साथ समुद्री व्यापार में वृद्धि के लिए उपयोगी रही होगी।

चोल सेना के अनेक सेनापति ब्राह्मण थे। प्रसिद्ध होने पर इन्हें 'ब्रह्माधिराज' की उपाधि दी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जाती थी। सैनिक छावनियों को 'कडगम' कहते थे। कुलोत्तुंग प्रथम ने अपने दक्षिण अभियान के बाद कोट्टारू में अपनी एक सेना रख दी थी। उसके शासन के 46वें वर्ष में एक सैन्य टुकड़ी दक्षिण में विद्यमान थी। राजधानी तथा प्रमुख नगरों में शान्ति के समय सैनिक सैन्य अभ्यास करते थे। राजा अपने सैनिकों के मनोबल को बढ़ाने के लिए उन्हें उनके अनुपम शौर्य के लिए 'क्षत्रिय शिखामणि' की उपाधि देते थे। विभिन्न वर्गों के सैनिक अधिकारी नायक, सेनापति तथा महादण्डनायक कहलाते थे। राजा एवं राजकुमार युद्ध भूमि में सेना का नेतृत्व करते थे। इससे सैनिकों की उत्साह शक्ति बढ़ती रही होगी। चोल शासक राजादित्य की 'तक्कोलम' के युद्ध में तथा राजाधिराज की 'कोप्पम्' के युद्ध में मृत्यु हुई थी। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि चोल राजा विजिगीषु थे। उनका सैन्य बल बढ़ा चढ़ा था।

स्थानीय शासन

चोल राजाओं के राज्यकाल में स्थानीय शासन व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया गया। इसके विषय में सर्वाधिक प्रकाश तमिलनाडु प्रान्त के चिंगलपट जिले के 'उत्तरमेरूर' ग्राम से प्राप्त परान्तक प्रथम के लेख से पड़ता है। स्थानीय शासन प्रमुखत: ग्राम सभाओं, नगर सभाओं, तथा नाडु सभाओं द्वारा संचालित होता था। नाडु सभाएं प्रतिनिधि संस्थाएं थीं। ग्राम शासन ग्राम सभाओं के माध्यम से चलता था। प्रत्येक ग्रामीण वयस्क इसका सदस्य होता था। सभाओं के अपने अध्यक्ष, समुदाय एवं निगम होते थे। प्रत्येक संगठन किसी विशिष्ट संस्था या कार्य की देख-रेख करता था। ग्राम के धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में इन संगठनों की भूमिका होती थीं। यदि वे अपने दायित्वों के निर्वाह में असफलता का अनुभव करते तो अपने दायित्व ग्राम सभा को दे देते थे। चोल अभिलेखों में तीन प्रकार की ग्राम सभाओं के उल्लेख मिलते हैं :

1. ऊर,
2. सभा या महासभा,
3. नगरम्।

ये सभी स्थानीय निवासियों की सभाएं थीं।

ऊर

ऊर का शाब्दिक अर्थ पुर है। यह ग्राम तथा नगर दोनों के लिए व्यवहृत होता था। इसके संगठन एवं कार्यों के सम्बन्ध में चोल लेखों से प्रकाश नहीं पड़ता। ऊर की कार्यसमिति को 'आलुंगणम्' कहते थे। ऊर अपने प्रतिनिधियों से दस्तावेजों का प्रारूप तैयार करवा कर उसे लेखबद्ध कराती थी। सामान्य रूप से ऊर अकेले कार्य करती थी परन्तु कभी-कभी यह सभा के साथ संयुक्त रूप से अपना कार्य सम्पादित करती थी। ऊर के सदस्यों को नकद धन दिया जाता था। इसे वे स्वेच्छापूर्वक किसी भी व्यवसाय में लगा सकते थे।

कभी-कभी एक ही गाँव में दो 'ऊर' होते थे। 1227 ई० में शात्तमंगलम् में दो ऊर थे। दोनों ने कुछ भूमि एक सरोवर एवं पुष्पवाटिका के लिए दी और उस भूमि को कर मुक्त कर दिया। इसके लिए जो भूमिकर राजा को दिया जाता था; उसका उत्तरदायित्व दोनों ऊरों ने अपने ऊपर ले लिया था। लगभग 1245 ई० में कुमारमंगलम् तथा अमणकुंडि नामक ग्रामों में दो ऊर थे।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सभा या महासभा

चोल शासकों द्वारा विद्वान ब्राह्मणों को दिए गए अग्रहार से बनी ब्राह्मण बस्तियों (ब्रह्मदेय) की संस्था को सभा या महासभा की संज्ञा दी गयी है। इसे पेरूगुरि तथा इसके सदस्यों को पेरूमक्कल कहते थे। सभा के सम्बन्ध में सूचना देने वाले लेख प्रमुख रूप से काञ्चीपुरम् के निकटवर्ती अंचलों से प्राप्त हुए हैं। महासभा प्रमुखत: अपनी समितियों के माध्यम से कार्य करती थी। इन्हें 'वारियम्' कहा गया है। विभिन्न सभाओं के वारियमों की संख्या अलग-अलग थी। वारियमों के संगठन एवं उनकी कार्यशैली के विषय में उत्तरमेरूर ग्राम से प्राप्त परान्तक प्रथम के क्रमश: 919 ई० तथा 921 ई० के लेखों से महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। 919 ई० के लेख में सभा द्वारा गठित पाँच समितियों का उल्लेख है। इनके गठन का प्रस्ताव राजा द्वारा नियुक्त एक अधिकारी की उपस्थिति में पारित किया गया था। इस प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य था इन समितियों में 30 वार्डों के (जिनमें पूरा गाँव विभाजित था) समुचित प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करना एवं इन वार्डों को विभाजित करने वाले 12 मार्गों की समुचित देखभाल करना। इन समितियों के गठन में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किए गए तथा 921 ई० में पारित प्रस्तावों के अनुसार ग्राम के 30 वार्डों में से प्रत्येक में ऐसे व्यक्तियों को मनोनीत किए जाने की व्यवस्था थी जिनके पास 1/4 वेलि भूमि (लगभग डेढ़ एकड़) तथा अपना भवन हो; जिनकी आयु 35-70 वर्ष के बीच हो, जो वैदिक मन्त्रों का ज्ञान रखते हों, अथवा जिनके पास 1/8 वेलि भूमि हो किन्तु वे वेदज्ञ हों। समिति के सदस्यों का चयन प्रतिवर्ष किए जाने की व्यवस्था थी। समिति की सदस्यता की अधिकतम अवधि तीन वर्ष की थी। समिति के व्यय का विवरण प्रस्तुत न करने वाले चरित्रहीन, पापी एवं चोरी आदि के अपराधों के दोषी व्यक्ति समिति के सदस्य नहीं हो सकते थे।

लेख में समिति के सदस्यों के चयन की प्रक्रिया का विवरण मिलता है। नियमत: मनोनीत व्यक्तियों में से 30 सदस्य कुडुम्बुओं (वार्ड्स) के लिए चुने जाते थे। प्रत्याशियों के नाम ताड़पत्रों पर लिखकर उन्हें एक पात्र में डाल दिया जाता था। किसी अल्पायु के बालक द्वारा अपेक्षित संख्या में ताड़पत्रों को निकलवाया जाता था। जिस नाम का पत्र निकल आता था उसे चयनित समझा जाता था। प्राय: राजा द्वारा नियुक्त मध्यस्थ के समक्ष यह चुनाव प्रक्रिया (कुडुवोलै) सम्पन्न होती थी। 30 सदस्यों में से 12 सदस्यों की जो वयोवृद्ध, विद्वान तथा उद्यान एवं तड़ाग (जलाशय) समितियों के कार्यकलापों में अनुभवी होते थे 'संवत्सरवारियम' (वार्षिक समिति) हेतु, 12 सदस्यों को 'तोट्टवारियम' (उद्यान समिति) तथा 6 सदस्यों को 'एरिवारियम्' (तड़ाग समिति) हेतु चुना जाता था। इन सदस्यों का कार्यकाल 360 दिन का होता था। सदस्यों की संख्या विभिन्न ग्रामों में पृथक-पृथक हो सकती थी। 922 ई० में परान्तक प्रथम के 15वें राज्यवर्ष में सभा ने एक अन्य समिति का गठन किया। इसमें स्वर्णपरीक्षा में निपुण 8 सदस्य थे जिनका कार्य ग्रामवासियों के लिए ग्राम में ही सोने की परीक्षा करना था। सम्भवत: यह समिति सभा की स्वर्ण समिति (पोन वारियम) की सहायता हेतु बनी थी। समिति के सदस्य अवैतनिक होते थे। राजराज प्रथम के राज्यकाल के ग्यारहवें वर्ष (996 ई०) के 'तेन्नेरि' के एक अभिलेख में उल्लेख है कि सभा के निश्चयों की जो भी अवहेलना करेगा वह राजा के आदेश के उल्लंघन के दण्ड का भागी होगा (तिरूवाणै मरूत्तार - पडुम - दण्डम्) वस्तुत: सभाएं अपनी कार्यपद्धति के निर्धारण के

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लिए स्वतंत्र थी। प्रत्येक सभा परिस्थितियों के अनुसार अपने नियम बना लेती रही होगी। सभा की बैठक सामान्य रूप से ग्राम के देवालयों, सरोवरों के तटों अथवा किसी वृक्ष के नीचे होती थी। निर्धारित दिवस एवं समय की सूचना ढोल पीटकर दी जाती थी। सभी सदस्यों के उपस्थित होने पर ही कार्यवाही आरम्भ की जाती थी। मतदान अथवा कोरम के विषय में चोल लेखों से जानकारी नहीं मिलती। सभा में विचार-विमर्श के उपरान्त प्रस्ताव पास किए जाते थे तथा उन्हें लिपिबद्ध कर लिया जाता था।

धार्मिक एवं जनकल्याण के कार्यों जैसे देवालयों, धर्मशालाओं, चिकित्सालयों तथा चिकित्सकों के लिए अक्षयनिधियाँ देने वाले व्यक्तियों को सभा सहयोग तथा प्रोत्साहन देती थी। ग्राम के जलाशयों की देखरेख के साथ सिंचाई की समुचित व्यवस्था वनों तथा बेकार भूमि का सदुपयोग आदि सभा के दायित्व क्षेत्र में थे। बिना राजा की अनुमति के सभा को कर लगाने तथा कर में छूट देने का अधिकार प्राप्त था। राजकेशरि के राज्यकाल के द्वितीय वर्ष नालूर की सभा ने दुकानों से मिलने वाला कर (अगाडिक - कूलि) सदैव के लिए एक देवालय के नाम कर दिया था। श्रीकंठचतुर्वेदिमंगलम् की सभा ने एक प्रस्ताव पारित किया था जिसके अनुसार मन्दिर की किसी सम्पत्ति पर उस दिन से कोई कर नहीं लगेगा। सभा को न्यायिक अधिकार प्राप्त थे। स्थानीय मुकदमों के निपटारे में उनका योगदान होता था। न्याय समिति को न्यायत्तार कहा जाता था। सभा के निर्णय से असन्तुष्ट लोगों को शासक के पास अपील करने का अधिकार था। 1129 ई० के एक लेख में एक भट्ट के प्रति तिरूप्पेर की सभा द्वारा आभार प्रकट किए जाने का उल्लेख मिलता है जब उसने विषम परिस्थितियों में ग्रामवासियों की सहायता की थी। उत्तरमेरूर की सभा ने एक गणिका को कुछ विशेषाधिकार प्रदान किए थे क्योंकि उसने स्थानीय विष्णुमन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। सभा द्वारा किए जाने वाले कार्यों एवं लेखे-जोखे का निरीक्षण राजकीय अधिकारियों द्वारा किया जाता था। इस सम्बन्ध में अनियमितता होने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था की। राजेन्द्र प्रथम के राज्यकाल में मारयमंगलम् की एक सभा द्वारा पैंतीस वर्षों से मन्दिर की कुछ भूमि पर कब्जे के आरोप का ज्ञान राजा को हुआ। राजा ने अपने अधिकारी द्वारा वस्तु-स्थिति का पता किया। आरोप सत्य सिद्ध हुआ। सभा को 400 काशु जुर्माना देना पड़ा। कृषि योग्य भूमि की उपज के मूल्यांकन तथा कर निर्धारण में ग्राम सभाएं शासन के अधिकारियों की सहायता करती थीं।

नगरम्

नगरम् व्यापारियों की प्रधान सभा प्रतीत होती है। व्यापारिक नगरों में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। चिदम्बरम् से प्राप्त एक अभिलेख में नगरम् का उल्लेख चिदम्बरम् नगर के एक पृथक क्षेत्र के लिए किया गया है। तंजौर नगर की दीवारों के बाहर (तंजावूरप्पुरम्बडि) स्थित चार नगरम् का उल्लेख राजराज के राज्यकाल के राजराजेश्वर मन्दिर में उत्कीर्ण एक लेख में मिलता है। महाबलीपुरम् के एक लेख में नगरम् के चार भागों का उल्लेख है जिनमें प्रत्येक भाग में 100 मणै (भवनक्षेत्र) थे। नगरम् के प्रशासन से सम्बद्ध सदस्य (व्यापारी) दो वर्गों में उल्लिखित हैं :

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

1. नगरत्तर,
2. व्यापारिनगरोत्तम्।

इसके लिपिक को नगरकरणत्तार तथा लेखाधिकारी को नगरक्कण्णक्कु कहा जाता था। नगरम् द्वारा बाजार में विक्रय की जाने वाली कुछ वस्तुओं पर कर लिया जाता था इसकी सूचना राजराजेश्वर मन्दिर लेख से मिलती है। ये वस्तुएं फल, पान, सुपारी, केसर एवं गन्ना आदि थीं। करघों, कोल्हुओं (चेक्किरै), स्वर्णकारों (तट्टोपाट्टम्), दुकानों (अंगाडिपट्टम), बाटों (इडैवरि), नमक (उप्पायम्), हाथियों और घोड़ों के अस्तबलों से भी नगरम् द्वारा कर वसूल किए जाने की पुष्टि होती है।

नाडु

नाडु की भी अपनी सभाएं थीं जो भू-राजस्व सम्बन्धी कार्य करती थीं। नाडु अपने नाम से दान देते थे एवं अक्षय निधियां ग्रहण करते थे। इनकी क्रिया शैली के विषय ने सूचना का अभाव है। नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार नाडु की सभा में प्रत्येक ग्राम के प्रतिनिधि भाग लेते थे।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि चोलों के सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की नींव नगरों एवं ग्रामों में जीवन यापन करने वाले नागरिकों एवं ग्रामवासियों की जनहित की भावना तथा उनके द्वारा किए गए लोकोपकारी कार्यों पर आधारित थी। प्रत्येक ग्राम अपने में एक स्वतंत्र प्रशासनिक इकाई था जिस पर शासन का वरदहस्त विद्यमान था।

पाद टिप्पणियां

1. मौर्यस्य राज्ञः चन्द्र (गुप्तस्य) राष्ट्रियेण (वै)श्येन पुष्यगुप्तेन कारितं अशोकस्य मौर्यस्य (कृ)ते यवनराजेन तुष(ा) स्फेनाधिष्ठाय...रूद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख, डी॰सी॰ सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्शन्स, पृ॰ 177।
2. राधा कुमुद मुखर्जी, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ॰ 91।
3. वही, पृ॰ 78।
4. विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य - राधा कुमुद मुखर्जी, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ॰ 75-76।
5. 'नास्ति हि कम्मतरं सर्वलोकहितत्पा'
   (सर्वलोकहित वस्तुतः मेरे द्वारा कर्त्तव्य माना गया है।) – शिलालेख 6
   परमेश्वरी लाल गुप्त, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग 1, पृ॰ 24-26।
   'सवे मुनिसे पजा ममा। अथापजाये इछामि हकं किंति सवेन हित सुखेन हिदलोकिक पाललोकिकेन यू जे वू ति तथा (सव) मुनिसेसु पि इछामि हकं।' – पृथक् कलिंग शिलालेख - 2 (धौली संस्करण)
   'सब मनुष्य मेरी सन्तानें हैं। जिस प्रकार सन्तान के लिए मैं चाहता हूँ कि मेरे द्वारा वह सब प्रकार के इहलौकिक व पारलौकिक हित और सुख से युक्त है। उसी प्रकार मेरी इच्छा सब मनुष्यों के सम्बन्ध में है।
   परमेश्वरी लाल गुप्त, वही पृ॰ 45-47।
6. राधा कुमुद मुखर्जी, वही, पृ॰ 80।
7. राधा कुमुद मुखर्जी, वही पृ॰ 102।
8. सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वतति।
   कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम्।। – अर्थशास्त्र 1.6
9. अर्थशास्त्र 1.9।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

10. अर्थशास्त्र 3.5।
11. 'ताय अथाय विवादो निझती व सन्तो परिसायं।'
परमेश्वरी लाल गुप्त, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग-1, पृ०, 24।
12. अनन्त सदाशिव अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ. 245।
13. श्री राम गोयल, 'मागध - सातवाहन कुषाण साम्राज्यों का युग, पृ. 362।
14. 'तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यस्स्वामिनमिव चानुवर्तेत' – अर्थशास्त्र 1.10।
15. राधा कुमुद मुखर्जी, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ. 117।
16. अर्थशास्त्र 3/1।
17. समाहर्ता दुर्गं राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिकपथं चावेक्षेत। – अर्थशास्त्र, 2.6।
18. श्रीराम गोयल, मागध सातवाहन साम्राज्यों का युग, पृ० 372।
19. राधा कुमुद मुखर्जी, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ. 202।
20. अर्थशास्त्र 11, 33, नीलकण्ठ शास्त्री, नन्दमौर्ययुगीन भारत, पृ० 211।
21. राधा कुमुद मुखर्जी, 'चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल' पृ. 207।
22. दौत्य सम्बन्ध के अन्तर्गत जो वर्ष का उल्लेख है उसे डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के लेख 'भारत का विदेशों के साथ प्रणिधि सम्बन्ध' से उद्धृत किया गया है। द्रष्टव्य इतिहास दर्शन, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी, पृ० 175।
23. नासिक की गुफा में संवत्सर 19 के वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के लेख में गौतमीपुत्र सातकर्णि के अनेक गुणों का विवरण देते हुए उसे अद्वितीय ब्राह्मण कहा गया है।
24. वही।
25. विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य - मिराशी, सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास और अभिलेख, पृ० 9।
26. वही, पृ० 108।
27. सातवाहन लेखों में सिमुक तथा पुलुमावि को 'दक्षिणापथपति' एवं 'दक्षिणापथेश्वर' कहा गया है। वस्तुतः नर्मदा नदी के दक्षिण के भाग को दक्षिणापथ की संज्ञा दी गयी है।
'नर्मदायाः दक्षिणेन देशो दक्षिणपथः'। - वात्स्यायन के कामसूत्र की जयमंगला टीका।
28. मिराशी, सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास और अभिलेख, पृ. 112 (अनुवादित)।
29. आन्ध्र प्रदेश के बेल्लारी जिले के अडोणी तालुके में पुलुमावि के शासनकाल के 8वें वर्ष का लेख मिला है। इसमें उसके महासेनापति स्कन्दनाग की सातवाहनिहार जागीर का उल्लेख है।
30. कौटिल्य के अनुसार जानपद, उच्चकुल में जन्म, कलाओं में कुशलता, दूरदर्शिता ये आमात्यों के लिए अर्हताएं हैं (अर्थ० पृ० 14) गौतमीपुत्र सातकर्णि और पुलुमावि के समय में 'अमात्य' विष्णुपालित, स्यमक और शिवस्कन्ददत्त ने क्रमशः गोवर्धन (नासिक) 'आहार' का शासन किया था। – जी० याजदानी – दकन का प्राचीन इतिहास पृ० 135, पादटिप्पणी 6।
31. सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास और अभिलेख पृ० 102।
32. नासिक की गुफा में भटपालिका का लेख, क्रमाङ्क 10, पंक्ति 2.3।
33. मलवल्लिका चुटुकुला नन्द सातकर्णि का स्तम्भलेख, क्रमाङ्क 35, पंक्ति 1।
34. अमरावती में शिवमकसद का खण्डित लेख, क्रमाङ्क 24, पंक्ति 1।
35. बनवासी में हारितीपुत्र चुटुकुला नन्द सातकर्णि का शिलालेख क्रमाङ्क 37, पंक्ति 2।
36. साँची स्तूप के दक्षिण तोरण का सातकर्णि के समय का लेख क्रमांङ्क 2, पंक्ति 2।
37. कौटिल्य के अनुसार जो मन्त्रियों के सभी गुणों से सम्पन्न हो, सभी लोक व्यवहारों से परिचित हो, रचना में दक्ष हो, जिसका हस्तलेख स्पष्ट हो और जो तेज पढ़ने वाला हो उसे लेखक नियुक्त करना चाहिए।
38. जी० याजदानी दकन का प्राचीन इतिहास, पृ० 125।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

39. नासिक की गुफा में गौतमीपुत्रसातकर्णि का लेख, मिराशी, पाद टिप्पणी, पृ॰ 24।
40. राम शरण शर्मा, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ॰ 208।
41. राम शरण शर्मा, वही, पृ॰ 208।
42. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2.10.26. 5-6 उल्लेख है :
"ग्रामेषु नगरेषु चार्यञ्छुचीन् सत्यशीलान् प्रजागुप्तये निदध्यात्।
तेषां पुरुषास्तथा गुणा एव स्युः।।" – राजा ग्राम और नगर की प्रजा रक्षा (और व्यवहार) के लिए शुद्ध आचरण के सत्यशील आर्य (सज्जन) नियुक्त करे।
43. जी॰ याजदानी, वहीं, पृ॰ 126।
44. नासिक की गुफा में वासिष्ठीपुत्र पुलुमवि का लेख संवत्सर 19, मिराशी, वहीं पृ॰ 45।
45. वहीं, पृ॰ 49।
46. सिद्धान्त रूप में तांबा, चांदी या सोने का कोई सिक्का जिसकी तौल 1 कर्ष (16 माशे) हो उसे कार्षापण कहते थे, किन्तु चाँदी के सिक्के की स्थिति में एक 'माशा' बराबर 2 रत्ती, ताँबें में 5 रत्ती, (रत्ती 1.83 ग्रेन) होता था। रैप्सन के मतानुसार नानाघाट, नासिक और कन्हेरी के अभिलेखों में वर्णित 'कार्षापण' चाँदी के थे। इनका वजन 58 ग्रेन के स्थान पर 36 ग्रेन था। चाँदी के 35 कार्षापणों का मूल्य 1 सोने का कार्षापण था-1-जी॰ याजदानी, वही, पादटिप्पणी-31, प॰ 136।
47. संवत्सर 18 का गौतमीपुत्र सातकर्णि का नासिक गुहालेख।
48. ऋषभदत्त का नासिक गुहालेख।
49. 'धमोपजित कर विनियोग करस'।
50. वा॰ वि॰ मिराशी, वही, पृ॰ 144।
51. वही।
52. राम शरण शर्मा, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ॰ 223।
53. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ॰ 255।
54. भिक्षुस्य बलस्य त्रैपिटकस्य बोधिसत्वो प्रतिष्ठापितो।
महाक्षत्रपेन खरपल्लानेन सहा क्षत्रपेन वनष्परेन।।
– परमेश्वरी लाल गुप्ता, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग-1, पृ॰ 148।
55. ..... महरजस कणेष्कस्य गुषण-वंश-संवर्धक लल
दडणयगो वेश्पशिस क्षत्रपस . . . । - वही, पृ॰ 152।
56. राम शरण शर्मा, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ॰ 226।
57. वही।
58. बैजनाथ पुरी, 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन ऐडमिनिस्ट्रेशन,' जिल्द 1, पृ॰ 102।
59. स्नेह व्यालुलितेन वाष्पगुरुणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा
यः पित्रामिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति, पंक्ति 8।
60. रमेश चन्द्र मजूमदार, अनन्त सदाशिव अल्तेकर, वाकाटक-गुप्त युग, पृ॰ 286।
61. प्रयाग प्रशस्ति पंक्ति 21।
62. वही पंक्ति 19।
63. भितरी स्तम्भलेख, पंक्ति 15।
64. वही, पंक्ति 10।
65. अनन्त सदाशिव अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ॰ 260।
66. अर्थशास्त्र, 1/16, 1/86।
67. प्रयाग प्रशस्ति, पंक्ति 32-33।
68. अनन्त सदाशिव अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ॰ 262।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

69. राखालदास बैनर्जी, एज ऑफदि इम्पीरियल गुप्ताज, पृ॰ 73-74।
70. विस्तृत विवरण हेतु दृष्टव्य के॰ के॰ थपल्याल का लेख, 'भारती', वासुदेव शरण अग्रवाल वाल्यूम सं॰ 12-14 (1968-1971) बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय।
71. दीक्षितार, गुप्ता पॉलिटी पृ॰ 157।
72. द्वितीय चन्द्रगुप्त का उदयगिरि गुहालेख।
73. प्रथम कुमारगुप्त का करमदण्डा लेख।
74. नीतिसार 4/44-45।
75. मालविकाग्नि मित्र, अंक 1।
76. मजूमदार व अल्तेकर, वाकाटक गुप्त युग, पृ॰ 293।
77. वही, पृ॰ 294।
78. अल्तेकर–प्राचीन शासन पद्धति, पृ॰ 262।
79. अल्तेकर–'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति'-पृ॰ 263।
80. स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख, पंक्ति 9।
81. पुण्ड्रवर्द्धन - भुक्तावुपरिक चिरातदत्तस्य ....
कुमारगुप्त का दामोदरपुर लेख (गु॰ सं॰ 124)।
82. दीक्षितार, गुप्ता पालिटी, पृ॰ 256।
83. उदय नारायण राय, गुप्त सम्राट् और उनका काल, पृ॰ 246।
84. पंक्ति 11।
85. बृहस्पति स्मृति, 6/32।
86. मजूमदार व अल्तेकर, वाकाटक-गुप्त युग, पृ॰ 308।
87. नारदस्मृति, 10/1।
88. लेगे, ए रेकर्ड आफ बुद्धिस्ट किंगडम्स, पृ॰ 42-43।
89. वही।
90. लेगे, ए रेकर्ड आफ बुद्धिस्ट किंगडम्स, पृ॰ 42-43।
91. कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक 1।
92. श्रीराम गोयल, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ॰ 388।
93. वही, पृष्ठ 389।
94. वही।
95. वाटर्स, जिल्द 1, पृ॰ 344।
96. वही, पृ॰ 343।
97. विशुद्धानन्द पाठक, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ॰ 59।
98. रमेशचन्द्र मजूमदार सम्पादित 'द क्लासिकल एज' का हिन्दी अनुवाद 'श्रेण्य युग', पृ॰ 402।
99. एपीग्रेफिया इण्डिका, जिल्द 4, पृ॰ 211।
100. विशुद्धानन्द पाठक, वही, पृ॰ 63।
101. वाटर्स, जिल्द 1, पृ॰ 343।
102. राधा कुमुद मुकर्जी, हर्ष, पृ॰ 94।
103. किरण कुमार थपल्याल, इन्सक्रिप्शन्स ऑफ द मौखरीज़, लेटरगुप्ताज़, भूतिज़ एण्ड यशोवर्मा ऑफ कन्नौज, पृ॰ 103।
104. श्रीराम गोयल, मौखरि – पुष्यभूति-चालुक्य युग, – पृ॰ 300।
105. मेसोपाटामिया (वर्तमान इराक देश) में अभियुक्त को दज़ला एवं फरात नदियों के प्रवाह में धक्का देकर गिरा दिया जाता था। यदि वह डूब गया तो अपराधी था; यदि बच गया तो निरपराधी था।
106. वाटर्स, पृ॰ 171।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

107. अनेक 'नागायुतबलम्', एक अयुत दस हजार के बराबर होता है। वासुदेव शरण अग्रवाल, 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन', पृ॰ 39।
108. 'कृतानेक बाणविवरसहस्त्रं लोहप्राकारम्।', वही पृ॰ 39।
109. अपरिमित विभूतिस्फीतसामन्तसेना, मुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्द:।
युधि पतित गजेन्द्रानीक वीभत्सभूतो भयविगलित हर्षोयेन चाकारि हर्ष:।।
– श्री राम गोयल, मौखरि पुष्यभूति चालुक्ययुगीन लेख पृ॰ 231।
110. वही, पृ॰ 87।
111. रमेशचन्द्र मजूमदार (सम्पा॰), द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ॰ 16।
112. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ॰ 270।
113. रमेशचन्द्र मजूमदार (सम्पा॰) वही पृ॰ 17।
114. पारगो राजविद्यानां कविमुख्य: प्रियंवद:।
– अनन्त सदाशिव अल्तेकर, राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पृ॰ 162।
115. तस्य य: प्रतिहस्तोऽभूत्प्रियो दक्षिणहस्तवत्। – वही, पृ॰ 160।
116. अल्तेकर, राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पृ॰ 173।
117. अमोघवर्ष प्रथम ने बनवासी के प्रान्तपति के रूप में बंकेय की नियुक्ति की थी जो युद्ध विद्या में निष्णात था।
118. अल्तेकर, वही, पृ॰ 182।
119. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ॰ 274।
120. निजतुरंगमैकविजयानीतलक्ष्मीसनाथ:।
– कडबा लेख, एपीग्रेफिया इण्डिका, चतुर्थ, पृ॰ 340।
121. अल्तेकर, राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पृ॰ 251।
122. परान्तक प्रथम तथा राजराज चोल के लेखों में अलंकारिक उपाधियों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। जैसे परकेसरि चक्रवर्तिन परांतक देव तथा राजराज के लिए कोनेरिन्मैकोंडान (अद्वितीय राजा), कोनोयिन्मै (अच्छे स्वास्थ्य वाला राजा)।
123. के॰ ए॰ नीलकण्ठ शास्त्री चोल वंश, पृ॰ 354 चीनी लेखक द्वारा उल्लिखित नर्तकियों की संख्या अतिशयोक्तिपूर्ण है।
124. राजाधिराज प्रथम के एक अभिलेख में उसने अपने एक 'गुरूदेवर' का बड़ी श्रद्धा से उल्लेख किया है। कुलोत्तुंग प्रथम के राज्यकाल के मैसूर से प्राप्त एक अभिलेख में एक 'राजगुरू' का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि राजा ने 108 चतुर्वेदिभट्टों (ब्राह्मणों) को गुरू के परामर्ग से एक 'ब्रह्मदेय' (ब्राह्मणों के निमित्त दिया गया ग्राम दान) दिया था।
– दृष्टव्य के॰ ए॰ नीलकंठ शास्त्री, चोल वंश, पृ॰ 355।
125. 961 ई॰ के मदुरैकोण्ड राजकेसरि के पाँचवें वर्ष के लेख में पेरून्दरम् का प्रथम उल्लेख मिलता है। राजराज के पेरून्दरम् श्रेणी के 8 अधिकारियों का उल्लेख भी मिलता है।
126. स्थानीय संस्थाओं को दिए जाने वाले संदेशों को श्रीमुखम् अथवा तिरूमुगम् कहते थे।
127. के॰ ए॰ नीलकंठ शांस्त्री, वही, पृ॰ 374।
128. 993 ई॰ से 1070 ई॰ के बीच लगभग 77 वर्षों तक श्रीलंका पर चोलों का प्रभुत्व रहा। श्रीलंका पर चोल शासन के विस्तृत विवरण हेतु दृष्टव्य, के॰ के॰ पिल्लई 'साउथ इण्डिया ऐण्ड सीलोन' तथा लेखक की कृति 'श्रीलंका में हिन्दू धर्म'।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट – 1

राजा का देवत्व

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में राजा की महत्ता को दृष्टिगत रखते हुए उसे देवत्व प्रदान करने के अनेकशः उल्लेख मिलते हैं। निरूक्त में राजन् शब्द की उत्पत्ति "राज्" धातु से बताई गई है जिसका अर्थ है – "चमकना"। महाभारत के शान्तिपर्व में राजा को "रञ्ज्" धातु से उत्पन्न माना गया है जिसका आशय है – "प्रसन्न करना" इस प्रकार वही राजा है जो प्रजा के मध्य चमकता हुआ उसे प्रसन्न एवं सन्तुष्ट रखता है। "देव" शब्द की व्युत्पत्ति "दिव्" धातु से हुई है जिसका अर्थ है – "प्रकाशमान"। अर्थात् देवता एवं राजा दोनों ही शब्दार्थ के अनुसार प्रकाशमन्तता के गुण से पूर्ण होते हैं।

ऋग्वेद में राजा पुरूकुत्स को अर्द्धदेव की संज्ञा प्रदान की गई है। पुरूकुत्स का पुत्र त्रसद्दस्यु कहता है कि "देव लोग वरुण की शक्ति पर निर्भर हैं, किन्तु मैं लोगों का राजा हूं, मैं इन्द्र एवं वरुण हूँ, मैं विशाल एवं गम्भीर स्वर्ग एवं पृथिवी हूँ; मैं अदिति का पुत्र हूँ।"[1] यहाँ पर राजा अपने को वैदिक देवों में सर्वश्रेष्ठ देवों के समान कहता है।[2] अथर्ववेद में राजा परीक्षित को मर्त्यों में देवता कहा गया है। अथर्ववेद[3] में उल्लेख है :

'हे राजा तुम्हे सभी लोग चाहें, तुम्हारे हाथों से राज्य न लिया जा सके, तुम इन्द्र के समान इस संसार में स्थिर रहो एवं तुम राज्य धारण किए रहो।'

प्रस्तुत अंश से निष्कर्ष निकलता है कि राजा में इन्द्र का सा पराक्रम अपेक्षित था। ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा को देवत्व प्रदान किए जाने का अनेक स्थानों पर संकेत मिलता है। तत्कालीन धारणा थी कि राजा के राज्याभिषेक के समय उसके शरीर में अग्नि, सविता (सूर्य) और बृहस्पति देवता प्रवेश करते हैं। यह अभिषेक मानव नहीं वरन् पूषन् (पोषण के देवता) एवं अश्विनी कुमार करते हैं। जो राजा अश्वमेध एवं वाजपेय यज्ञ करते हैं उन्हें मृत्यु के उपरान्त देवता का पद प्राप्त होता है।[4] अधिकांश प्रजा एक राजा की आज्ञा का पालन इसीलिए करती थी क्योंकि वह उसे देवाधिदेव प्रजापति का प्रत्यक्ष प्रतीक समझती थी।[5]

वैदिक युग में प्रायः युद्ध होते रहते थे। तत्कालीन धारणा थी कि देव बल के कारण ही राजा शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ होता है। विजयी सम्राटों को इन्द्रदेव की उपाधि से विभूषित किया जाता था।

महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लेख है कि दैवी गुणों के कारण ही लोग राजा के नियंत्रण में रहते हैं। कतिपय स्मृतियों एवं पुराणों से भी राजा के देवत्व की पुष्टि होती है। मनु ने राजा को नर-रूप में महान देवता की संज्ञा दी है। प्रजापति ने आठों दिशाओं के दिग्पालों के शरीर के अंश से राजा के शरीर की रचना की है।[6] इस प्रकार महाभारत एवं मनुस्मृति में राजा को

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

या तो साक्षात् ईश्वर या ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में उसके समान कर्म करने वाले की संज्ञा प्रदान की गई है।

नारदस्मृति के अनुसार स्वयं इन्द्र पृथिवी पर राजा के रूप में विचरण करता है। राजाज्ञा का उल्लंघन करने से मानव पृथिवी पर निवास करने की क्षमता खो देता है। विष्णुपुराण, भागवतपुराण तथा वायुपुराण में वर्णन है कि राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं। इन देवताओं में ब्रह्मा, रूद्र, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, वरुण आदि का उल्लेख मिलता है। महाभारत, कुछ स्मृतियों एवं कतिपय पुराणों में जो अंश आए हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि राजा अपने तेज से दुष्टों को भस्मसात कर देता है अत: वह अग्नि के समान है, वह अपने चरों द्वारा सब कुछ देख लेता है अत: सूर्य के समान है; अपराधियों को समुचित दण्ड देने के कारण वह यम के समान है तथा सुयोग्य व्यक्तियों को प्रचुर पुरस्कार देने के कारण राजा कुबेर के समान है। अधिकांशत: राजा को साक्षात् देवता न कहकर देवगुणों से समायुक्त बताया गया है।

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक अपने धर्मलेखों में अपने आपको "देवानां प्रिय" (देवताओं का प्रिय) कहकर बार-बार सम्बोधित करता है। प्रथम व द्वितीय शती ई॰ में भारत पर शासन करने वाले कुषाणवंशी राजा अपने मुद्रालेखों में "देवपुत्र" लिखवाते थे उनके सिक्कों पर विविध देवी (ग्रीक, सुमेरी, पारसी, हिन्दू) देवताओं का अंकन मिलता है। कुछ कुषाण राजा अपने आपको देवी ज्योति से आवृत बादलों से अवतरित होते हुए अंकित कराते थे। कुषाण सम्राटों ने अपने पूर्वजों की प्रतिमाएं देवताओं के समान मानकर उन्हें मन्दिरों में स्थापित कराया था।

प्राय: अधिकांश साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक स्रोतों में राजा के व्यक्तित्व की प्रशंसा देवताओं के व्यक्तित्व से समीकृत करके की गई है। सम्भवत: राजा को देवत्व प्रदान करने के मूल में यह भाव निहित था कि राजा की प्रतिष्ठा में वृद्धि हो। गाहड़वाल वंशी राजा चन्द्र व गोविन्दचन्द्र को गाहड़वाल लेखों में ब्रह्मा एवं हरि का अवतार कहा गया है। वियतनाम (प्राचीन चम्पा) तथा कम्बोडिया (कम्बुज देश) में कुछ राजा अपने पूर्वज राजाओं के निमित्त देवालयों का निर्माण कराकर देव मूर्तियों के स्थान पर अपने पूर्वजों की मूर्तियां स्थापित कराते थे। कम्बुज के ऐसे राजाओं में सूर्यवर्मन प्रथम, सूर्यवर्मन द्वितीय तथा जयवर्मन द्वितीय के नाम उल्लेखनीय हैं। मृत्यु के उपरान्त देवता के नाम पर राजाओं का नाम रखा जाता था। प्राचीन मिश्र में राजा या फराओं रा (सूर्य) देवता का पुत्र माना जाता था। बेबीलोनिया एवं असीरिया में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। वे देवताओं के समान पूजे जाते थे। प्राचीन यूनान में राजा देवाधिदेव "मयूस" के वंशज माने जाते थे। प्रथम शती ई॰ के आरम्भ में रोम के सम्राट मृत्योपरान्त देवता के रूप में पूजे जाते थे। उनके देवालयों का भी निर्माण किए जाने की परम्परा थी।

द्रष्टव्य है कि योग्य एवं सदाचारी राजा देवता या देवतुल्य माने जाते रहे हैं। इसके विपरीत दुराचारी एवं भ्रष्ट राजाओं को दण्डित किए जाने के भी उल्लेख मिलते हैं। मनु के अनुसार जो राजा प्रजा को पीड़ा देता है वह अपना जीवन, कुटुम्ब एवं राज्य खो देता है।

महाभारत के अनुसार राजा वेन को ब्राह्मणों ने इसलिए मार डाला था क्योंकि वह देवद्रोही तथा अधर्मपरायण था। शुक्रनीतिसार में वर्णन है कि यदि ब्राह्मण लोग अत्याचारी राजा को हटाकर मार डालें तो इस कर्म से पाप नहीं लगता।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में राजा की प्रतिष्ठा एवं उसके उत्तरदायित्वों को दृष्टिगत रखते हुए उसे देवत्व प्रदान किया गया था। देवता शुभ भावनाओं के प्रतीक तथा अशुभ प्रवृत्तियों के वर्जनकर्ता माने गये हैं। सम्भवत: इसी भावना के कारण राजा को देवता या दैवी गुणों से युक्त माना गया। उद्दण्ड एवं भ्रष्ट राजाओं को दण्डित करने के प्राचीन उल्लेखों से विदित होता है कि राजा निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते थे। प्रजा उनके कृत्यों को ध्यान में रखते हुए उन पर अंकुश रखती थी। इसकी सान्दर्भिक चर्चा के अन्तर्गत राज्याभिषेक की प्रक्रिया में राजा द्वारा ली जाने वाली शपथ तथा रत्नियों का विश्वास प्राप्त करने की प्रक्रिया भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है जिसका विवरण आगे प्रस्तुत किया जायेगा। वैदिक युग की कुछ संस्थाओं की भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका रही है जिसका समुचित विवरण अध्याय-3 में प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया गया है। उन अंशों से भी राजा के देवत्व तथा उच्छृंखलता पर अंकुश के प्रामाणिक उदाहरण दृष्टिगत होते हैं।

पाद टिप्पणियां

1. ऋग्वेद 4/42।
2. पी॰ वी॰ काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-2, अनुवादक अर्जुन चौबे काश्यप, पृ॰ 592।
3. अथर्ववेद 6/87/1-2।
4. शतपथ ब्राह्मण 12.4.4.4, 3।
5. शतपथ ब्राह्मण (5/15/14) में उल्लेख है कि बाजपेय यज्ञ में बाण चलाते समय ऐसा कहा गया है कि "राजन्य (राजा) प्रजापति का है वह अकेला होते हुए भी बहुतों पर राज्य करता है। प्रस्तुत स्थल पर राजा को प्रजापति के प्रतिनिधि की संज्ञा दी जा सकती है।
6. मनुस्मृति 8/5।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट –2

उत्तर वैदिक साहित्य में राज्याभिषेक

राज्याभिषेक[1] का मूल उद्देश्य वैधानिक तथा नैतिक दृष्टि से मनोनीत राजा को राज्याधिकार प्रदान करना था। वस्तुत: वैदिक युग में उत्तर पश्चिम भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ राजा अपने कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व का भली-भाँति निर्वाह करते रहे होंगे जबकि अनेक राजा स्वेच्छाचारी रहे होंगे। प्रजा द्वारा मनोनीत राजा अथवा वंशानुगत राजा को विधिवत राज्याधिकार प्रदान करने हेतु राज्याभिषेक का महत्वपूर्ण कार्य आरम्भ हुआ। इस कार्य में वैदिक मंत्रों द्वारा यज्ञ एवं कर्मकाण्डों का विकास हुआ। यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण तथा गोपथ ब्राह्मण से इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार भारतीय आर्यों का सर्वप्रथम अभिषिक्त राजा 'पृथुवैन्य' था। विधिवत् राजा बनने हेतु राजसूय यज्ञ अनिवार्य माना गया।[2] कुरू-पांचाल शासकों ने राजसूय यज्ञ का विधिवत सम्पादन किया था।[3] इस यज्ञ के अन्तर्गत रत्नहवींषि संस्कार, राज्य के जलस्रोतों से प्राप्त जल से स्नान, विविध देवताओं के निमित्त आहुतियों का कार्य, व्याघ्रचर्म पर आसीन होना, नवीन वस्त्रों का धारण करना, प्रजा के प्रति दायित्व निर्वाह की शपथ लेना तथा अनेक महत्वपूर्ण तत्व सम्मिलित थे। सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाव यह था कि राष्ट्र एवं राजा के सम्बन्धों की उपमा माता एवं पुत्र के सम्बन्धों के रूप में दी गयी। राजा का पावन कर्त्तव्य राष्ट्र का सर्वांगीण विकास था। इसी सन्दर्भ में यजुर्वेद के निम्न अंश उदाहरणीय हैं :

"इयं ते राट्। कृत्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।।"[4]

अर्थात् तुम्हें यह राष्ट्र जनता के कल्याण, सर्वविध पोषण एवं उन्नति के लिए दिया जाता है।

राज्याभिषेक की प्रक्रिया में अध्वर्यु अथवा पुरोहित की विशिष्ट भूमिका होती थी। शुक्ल यजुर्वेद में इससे सम्बन्धित प्रचुर विवरण उपलब्ध है।[5]

क्षत्रिय को राजा के रूप में प्रतिष्ठित करने का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण पुरोहित क्षत्रिय को राज्य प्रदान करने हेतु यज्ञ-वेदी पर बैठाकर यज्ञ कराते हुए कहता है :

'ओजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्ताय:।[6]

अर्थात् 'है सेचन जलतरंग ! तू राष्ट्र देने वाली है। अमुक (क्षत्रिय) के लिए राष्ट्र प्रदान कर।'

राज्याभिषेक के कर्मकाण्डों का विवरण तैतिरीय संहिता तथा अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अन्तर के साथ मिलता है। प्राय: इन सभी ग्रन्थों में राज्याभिषेक को श्रेष्ठता का आधार माना गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में अनभिषिक्त राजा को निन्दनीय तथा अवैध कहा गया है।[7]

राज्याभिषेक सम्बन्धी कृत्यों में रत्नहवींषि संस्कार का अतिशय महत्व था। वस्तुत: राज्य के विविध वर्गों के प्रतिनिधि के रूप में रत्नियों की संख्या थोड़े अन्तर के साथ उत्तर वैदिक साहित्य में मिलती है। तैत्तिरीय संहिता में इनकी संख्या ग्यारह (ब्रह्मन, राजन्य, महिषी, परिवृक्ति, सेनानी, सूत, ग्रामणी, क्षतृ, संग्रहीतृ, भागदुघ, आक्षावाप), मैत्रायणी संहिता में चौदह (ब्रह्मन, राजन्य, महिषी, परिवृक्ति, सेनानी, संग्रहीतृ, क्षतृ, सूत, वैश्य, ग्रामणी, भागदुघ, तक्षन्, रथकार, अक्षावाप, गोविकर्तृ), तैत्तिरीय ब्राह्मण में बारह (ब्रह्मन, राजन्य, महिषी, वावाता, परिवृक्ति, सेनानी, सूत, ग्रामणी, क्षतृ, संग्रहीतृ, भागदुघ, अक्षावाप) तथा शतपथ ब्राह्मण में भी बारह (सेनानी, पुरोहित, याजक, महिषि, सूत, ग्रामणी, क्षतृ, संग्रहीतृ, भागदुघ, अक्षावाप, गीनिकर्तन, पालागल)[8] मिलती है।

प्रत्येक रत्नी को राज्य के मुकुट में एक-एक रत्न (अस्येकं रत्नम्) कहा गया है। यदि शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित रत्नियों की सूची की समीक्षा की जाए तो उनके कार्यों को निम्न प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है :

सेनानी से तात्पर्य सेना के प्रधान अधिकारी से था। पुरोहित को अध्वर्यु कहते थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण में पुरोहित के लिए ब्राह्मण 'शब्द' आया है जो धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन करता था। राजा, क्षत्र या आसन का प्रतिनिधि होता था। महिषी तो महत्वपूर्ण थी ही, वावाता प्रिय पत्नी के रूप में, पालागली राजनैतिक उद्देश्य से विवाहिता पत्नी के रूप में और परिवृक्ति व्यक्ता होने पर भी इसमें सम्मिलित की जाती थी। सूत का कार्य राजा एवं राज्यविषयक तथ्यों को संकलित करना था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सूत नामक राजकर्मचारी का उल्लेख मिलता है जिन्हें प्रतिवर्ष एक हजार कार्षापण वेतन दिया जाता था।[9]

जनपद या राष्ट्र के अन्तर्गत विविध ग्रामों के प्रधान ग्रामणी कहलाते थे। सम्भवत: इन ग्रामों का एक प्रतिनिधि रत्नी के रूप में मान्यता प्राप्त रहा हो। मैत्रायणी संहिता में ग्रामणी के लिए वैश्य ग्रामणी का शब्द व्यवहृत है। अत: इसे ग्रामों से वैश्य वर्ण का प्रतिनिधि माना जा सकता है।

क्षतृ या क्षत्रिय सम्भव है सेना सम्बन्धी कार्यों में निपुण व्यक्तियों का प्रतिनिधि रहा हो जिसे रत्नी मण्डल का अविभाज्य अंग माना जा सकता है। संग्रहीतृ या संग्रहीता राजकोष का नियन्ता अथवा संचालक प्रतीत होता है। उसे रथचालक भी माना गया है।[10] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित सन्निधाता से इसे समीकृत किया जा सकता है।[11]

भागदुघ का प्रमुख कार्य प्रजा से कर संचय करके उसे राजकोष में संग्रहीत करना रहा होगा। यजुर्वेद में भागदुघ नामक एक कर्मचारी का उल्लेख मिलता है।[12] भागदुघ का शाब्दिक अर्थ भाग दुहने वाला है। गोदूहन करने वाला जैसे गाय से धीरे-धीरे दुध दुहकर पात्र में संचित करता है उसी प्रकार भागदुघ गाय रूपी पृथ्वी से दूधरूपी भाग संचय करता है।

'अक्षावाप' के सम्बन्ध में विद्वान एकमन नहीं है। संस्कृत में अक्ष का शाब्दिक अर्थ 'पांसा' है। इस आधार पर अक्षावाप की द्यूत विभाग का प्रमुख अधिकारी माना जा सकता है। बैजनाथ पुरी के अनुसार यह राजा के लिए पांसा फेंकने वाला कोई व्यावसायिक खिलाड़ी रहा हो अथवा

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

जन सम्बन्धित अधिकारी।[13] सामान्य रूप से मनोरंजन के अन्तर्गत द्यूत क्रीडा का प्रचलन रहा होगा। जिसे राजकीय मान्यता प्राप्त थी। के॰ पी॰ जायसवाल के अनुसार यह अर्थ विभाग का एक विशेष अधिकारी था जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित 'अक्षपटल' नामक पदाधिकारी के समकक्ष था।[14]

'गोविकर्त्ता' का अर्थ सामान्यतया वन विभाग का प्रमुख अधिकारी माना गया है। काणे[15] के अनुसार यह रत्नी सम्भवत: आखेट का अधिकारी था। अल्तेकर के अनुसार यह राजा के गोधन का अधिकारी रहा होगा।[16] काठक संहिता (15/4) में गोविकर्त्ता के स्थान पर गो - व्यछ का उल्लेख किया गया है। सम्भव है उत्तरवैदिक काल में कृषि को हानि पहुँचाने वाले वन्य पशुओं को मारना भी इनका कार्य रहा हो।

राजकीय संदेशों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने वाला राजकर्मचारी 'पालागल' कहलाता था। वह लाल रंग की पगड़ी धारण करता था। उसके पास चमड़े का एक तरकश भी रहता था। यह आत्मसुरक्षा हेतु रहता होगा। राजनैतिक दृष्टि से ऐसे रत्नी की अत्यन्त उपयोगी भूमिका रही होगी।

रत्नियों के घर जाकर राजा उन्हें रत्नहवि के रूप में कुछ न कुछ प्रदान करता था। यह उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने तथा उनके सहयोग की अपेक्षा की पुष्टि करता है। गाय अपनी उपयोगिता की दृष्टि से सर्वोत्तम पशुमानी जाती थी। रत्नहवि के रूप में अधिकांशत: गाय देने का विधान था। शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित अंश के आधार पर विविध रत्नियों को दी जाने वाली रत्नहवि निम्न प्रकार थी :

1. सेनानी को हिरण्य या सुवर्ण,
2. पुरोहित तथा महिषी को गाय,
3. सूत को यव (जौ) से बना भोजन,
4. ग्रामणी को गाय,
5. क्षतृ को बैल (अनड्वान),
6. संग्रहीता को दो गाय,
7. अक्षवाप को गाय,
8. गोविकर्ता को गाय,
9. भागदुघ को काली गाय,
10. पालागल को लाल पगड़ी तथा धनुष-बाण।

शतपथ[17] ब्राह्मण के अनुसार राजारत्नियों को हवि देते समय कहता था – 'हम तुम्हारे लिए ही अभिषिक्त होते हैं और तुम्हें अपना निष्ठ (अनुगामी) बनाते हैं।'

राजा रत्नियों की निष्ठा प्राप्त करने के लिए लौकिक भाव के साथ-साथ पारलौकिक दृष्टि से देवताओं की आराधना में आहुतियां अर्पित करता था। उदाहरणतया 'धर्ममय शक्ति के लिए सविता को, गार्हपत्य के लिए अग्नि को, वनस्पति और कृषि की रक्षा के लिए सोम को, वाक् शक्ति के लिए बृहस्पति को, उत्तम शासन हेतु इन्द्र को, पशु-रक्षा के लिए पशुपति रुद्र को, सत्य के लिए मित्र को और सबसे अन्त में धर्मपति वरुण को आहुति दी जाती थी।[18]

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

हिन्दू राजतन्त्र के अनुसार धर्म ही सच्चा अधिपति है और राजा दण्ड या शासन का वह रूप है जो धर्म की रक्षा और संस्थापना करता है। उपरि अंकित आहुतियां राजा की विविध विशेषताओं और कर्तव्यों की प्रतीक हैं। वैदिक मन्त्रों द्वारा राजा में दैवी गुण आरोपित किए जाते थे।[19] यदि अथर्ववेद में वर्णित राजा के गुणों एवं महत्व का आकलन किया जाए तो प्रजा द्वारा सम्मान्य राजा प्रजा का अधिपति (विशां विशपति:), कोष का एक मात्र स्वामी (धन चपतिर्धनानाम्) जन का एक मात्र अधिपति (एकवृषं जनानाम्), समस्त प्राणियों का प्रभु (वृष: विश्वस्य भूतस्य), मनुष्यों में सर्वोच्च (ककुदमनुष्याणां) और देवताओं के समकक्ष (देवानां अर्धभाक्) होता था।[20]

राज्याभिषेक के लिए प्रस्तावित राजा को राष्ट्र के विविध स्रोतों से प्राप्त जल से स्नान कराने का उल्लेख है।

यजुर्वेद[21] के अनुसार :

> "अपो देवा मधुमती रगृम्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चिताना:
> याभिर्मित्रावरूणाभ्याधिञ्चन्या भिरिन्द्रमतमन्नराती:।।"

अर्थात् जो दिव्य गुणों वाले जल, अन्तरिक्ष और पृथिवी में अपने सारभूत रस से सबको तृप्त करते हैं, उन सब जलों के तेज से मैं तुझे स्नान कराता हूँ।

अथर्ववेद[22] के अनुसार :

> "या आपो दिव्या: पयसा मदन्त्यरिक्ष उत वा पृथिव्यां ।
> तासां त्वा सर्वासामपामभिषिञ्चामि वर्चसा।।"

अर्थात् जिन गुणों को दिव्य जलों में ग्रहण कर रखा है, जो मधु से संयुक्त है, जो रस सिक्त हैं, जो राजाओं का निर्माण करने वाले हैं, जिनसे मित्र और वरुण का अभिषेक किया जाता है। जिनके द्वारा अभिषेक करके सम्राट् को (इन्द्र) शत्रुओं से पार पहुँचा देते हैं, उन जलों को मैं स्नान के लिए लेता हूँ।

प्रथम मन्त्र में अन्तरिक्ष के जल से तात्पर्य वर्षा के जल से है। पृथिवी के जलों के अन्तर्गत समुद्र, नदियों, जलाशयों एवं कूपों के ढाल आते हैं। द्वितीय मन्त्र में जल की श्रेष्ठता का उल्लेख है। अथर्ववेद[23] के ही एक मंत्र में उल्लेख है कि राज्याभिषेकीय स्नान में राजा को जल की प्रशंसा के मन्त्रों का उच्चरण करना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण[24] में सत्रह प्रकार के जलों का संग्रह करके उनसे राजा के स्नान का वर्णन मिलता है। जल संग्रह करते समय वैदिक मन्त्रों का उच्चरण किया जाता था। ये जल वस्तुत: राष्ट्र के जल स्रोतों के प्रति राजा की निष्ठा एवं अनुराग के प्रतीक थे। दूध, घी, मधु आदि द्रव्यों का प्रयोग भी अभिषेक के समय किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण[25] के ही अनुसार सर्वप्रथम राजा का अभिषेक प्रजाजनों द्वारा किया जाता था। तत्पश्चात् मैत्रावरुण वेदी के समक्ष रखी हुई शार्दूल की खाल (व्याघ्रचर्म) पर निर्वाचित राजा बैठ जाता था। ब्राह्मण (पुरोहित), एवं (राजा के अपने परिवार का कोई व्यक्ति राजन्य एवं वैश्य द्वारा क्रमश: उसका अभिषेक किया जाता था। अभिषिक्त होता हुआ राजा कहता था – 'मैं जन का भरण करने वाला हो सकूँ अत: राष्ट्र को देने वाले जलो मुझे राष्ट्र प्रदान करो।'

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

अभिषेक के उपरान्त राजा नवीन वस्त्र धारण करता था। सम्भवतः अपवाद रूप में शतपथ ब्राह्मण[26] में उल्लेख है कि राजा के अंग ही उसके प्राकृतिक वस्त्र हैं। राजा को धनुष और तीन बाण दिए जाते थे जो उसकी क्षात्र शक्ति के परिचायक प्रतीत होते हैं। तीनों बाण सम्भवतः पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं आकाश के प्रति राजा के कर्त्तव्यों का बोध कराते थे। राजा का सौ छिद्रों वाले सुवर्ण पात्र से अभिषेक किया जाता था। ये सौ छिद्र राजा के शतायु होने की कामना की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति प्रतीत होते हैं। इन्हीं कर्मकाण्डों में राजा गूलर की लकड़ी की बनी आसन्दी (चौकी) पर बैठता था। वह वराहचर्म के जूते पहनता था। चार अश्वों वाले रथ पर आरूढ़ होकर कुछ दूर जाता था। तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख है कि राज्याभिषेक के अन्तर्गत रथारूढ़ राजा सर्वप्रथम सूर्य के दर्शन करता है फिर अपनी प्रजा की ओर देखता है। सम्भवतः सूर्य की ओर राजा द्वारा देखना उसकी कृपा एवं प्रकाश प्राप्त करना था। जिस प्रकार सूर्य सृष्टि के प्रत्येक जीव को समान रूप से प्रकाश देता है उसी प्रकार राजा के लिए सभी प्रजाजन समान हैं।

राज्याभिषेक के अवसर पर राजा द्वारा प्रजा के कल्याण हेतु शपथ लेने का विवरण अत्यन्त महत्व रखता है। ऐतरेय ब्राह्मण[27] में उल्लिखित शपथ के अनुसार 'जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि में मेरी मृत्यु होगी, उसके बीच के सभी शुभ कर्मों, अपने स्वर्ग, जीवन एवं वंश से वंचित होऊँ, यदि मैं तुम्हें (प्रजा को) पीड़ित करूँ।'

प्रस्तुत शपथ राजा की स्वेच्छाचारिता पर नैतिक अंकुश थी। राज्याभिषेक की प्रक्रिया में ही राजा की पीठ दण्ड से स्पर्श का उल्लेख है। इसके कई अर्थ सम्भावित हैं :

1. राजा भी दण्ड से परे नहीं है।
2. उसे प्रजा की रक्षा हेतु दण्ड का सम्बल होना चाहिए।
3. दण्ड स्पर्श से राजा अदंड्य हो जाता है।

सामविधान ब्राह्मण[28] में राजयाभिषेक हेतु शुभ मुहूर्त्त पर बल दिया गया है। सारांश रूप में कहा जा सकता है कि विभिन्न युगों में राज्याभिषेकीय कर्मकाण्डों में कुछ अन्तर होता रहा। इन कर्मकाण्डों में विविधता होते हुए भी मूल भावना यही रही होगी कि राजा को देवताओं का सतत आशीर्वाद एवं गुण प्राप्त हो। वह प्रजा के प्रत्येक वर्ग का समादर करे। राष्ट्र की धरती के कण-कण में राजा का अनुराग हो। अपनी सुयोग्यता एवं दूरदर्शिता से प्रजा का पालन एवं कल्याण करता रहे। बुद्धि एवं पराक्रम से राष्ट्र की रक्षा तथा सीमाओं की वृद्धि करे। राज्याभिषेकीय कर्मकाण्ड राजाओं की निरंकुशता पर अंकुश लगाने के साथ-साथ उनमें सत्संस्कारों द्वारा श्रेष्ठता का आरोपण करते रहे होंगे।

पाद टिप्पणियां

1. राज्याभिषेक शब्द 'राज्य' एवं 'अभिषेक' शब्दों के योग से बना है। अभिषेक का अर्थ स्नान है। जिस प्रकार स्नान से मनुष्य स्वच्छ एवं पवित्र होता है इसी प्रकार राज्य सम्बन्धी स्नान से राजा में पवित्रता आती है। उत्तर वैदिक साहित्य प्रस्तुत प्रक्रिया का अक्षय भण्डार है।
2. राज्ञ एव राजसूयं। राजा वै राजसूयेनेष्टवा भवति।
   –शतपथ ब्राह्मण 5/1/1/12

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

3. शतपथ ब्राह्मण, 5/5/2/5।
4. यजुर्वेद 9/22।
5. वही 20/1-4। प्रस्तुत विवरण में राजा के गुणों का उल्लेख है। देवताओं की कृपा से समन्वित राजा का अभिषेक पुरोहित का कार्य था। प्रत्युत्तर में यजुर्वेद के 20/5-1 मन्त्रों में राजा की प्रजा के प्रति निष्ठा से सम्बन्धित अंश है।
6. यजुर्वेद, 3/10।
7. तैत्तिरीय ब्राह्मण 1, 2/10/2/2।
8. राम शरण शर्मा, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ॰ 138।
9. कौटिल्यीय अर्थशास्त्र, 2/5।
10. राम शरण शर्मा, वही, पृ॰ 142।
11. कौटिल्यीय अर्थशास्त्र, 2/5।
12. यजुर्वेद, 13/3।
13. बी॰ एन॰ पुरी 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन' - जिल्द 1, पृ॰ 7।
14. के॰ पी॰ जायसवाल 'हिन्दू राजतन्त्र' खण्ड 2, पृ॰ 30।
15. पी॰ वी॰ काणे, 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र' जिल्द 2, खण्ड 2, पृ॰ 1216।
16. अनन्त सदाशिव अल्तेकर 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ॰ 118।
17. तस्माऽएवैतेन सूयते तं स्वमनप्रक्रमिणं कुरुते।

शतपथ ब्राह्मण, 5/3/1/1।

18. राधा कुमुद मुकर्जी - हिन्दू सभ्यता -- (हिन्दी अनुवाद) पृ॰ 100-101।
19. वही।
20. अथर्ववेद 4/22; राधा कुमुद मुकर्जी, वही, पृ॰ 101।
21. यजुर्वेद 10/1।
22. अथर्ववेद 4/8/5।
23. वही 1/9/3।
24. शतपथ ब्राह्मण - 5/3/4/17-20।
25. वही 5/3/5/1।
26. वही 5/3/5/25।
27. ऐतरेय ब्राह्मण 8/15।
28. सामविधान ब्राह्मण 3/5/1-3।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

परिशिष्ट – 3

प्राचीन भारत के दो प्रमुख राजनीतिक विचारक

कौटिल्य

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों में कौटिल्य का व्यक्तित्व अप्रतिम है। कौटिल्य नाम के अतिरिक्त इन्हें विष्णुगुप्त तथा चाणक्य नाम से भी अभिहित किया जाता है एक प्राचीन भारतीय कृति 'अर्थशास्त्र' को कौटिल्य द्वारा रचा गया बताया जाता है। यद्यपि यह अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न है किन्तु अर्थशास्त्र के ही एक स्थल में कहा गया है।

'जिसने अपने क्रोध से नन्द राजा के अधीन चली गयी भूमि, शस्त्र व शास्त्र का उद्धार किया, उसी ने इस अर्थशास्त्र की रचना की।'[1]

विष्णु पुराण में इस विषय के सम्बन्ध में कहा गया है कि ब्राह्मण कौटिल्य नन्द वंश का अन्त करेगा। नन्द वंश के पश्चात मौर्य राजा पृथ्वी का सुख भोगेंगे तथा मौर्य चन्द्रगुप्त को मगध के राजपद पर कौटिल्य अभिषिक्त करेगा।[2] इससे यह पता चलता है कि नन्द वंश का अन्त करने वाला, चन्द्रगुप्त मौर्य को सिंहासन प्रदान करने वाला तथा अर्थशास्त्र का रचयिता कौटिल्य ही था।

कुछ प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य की कृतियां अर्थशास्त्र से प्रभावित हुईं प्रतीत होती हैं। इनमें कालिदास की 'रघुवंशम्', 'कुमारसंभवम्', 'शाकुन्तलम्', याज्ञवल्क्य स्मृति, वात्स्यायन कृत, 'कामसूत्र', विष्णुशर्मा कृत 'पञ्चतंत्र', विशाखदत्त कृत 'मुद्राराक्षस' तथा बाण भट्ट कृत 'कादम्बरी' प्रमुख हैं। कामन्दक ने कौटिल्य-विष्णुगुप्त को अपना गुरू माना है- वे अपने गुरू के प्रति श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए यह बताते हैं :[3]

'जिसने अति प्रतिग्रहशील प्रतिष्ठित कुल में ऋषियों के समान प्रसिद्ध वंश में जन्म लिया है; जो पृथ्वी पर विख्यात है; जो अग्नि के समान तेजस्वी है; जिसने एक वेद के समान ही ऋग्, यजु:, साम तथा अथर्व इन चारों वेदों का अध्ययन किया है, जो वज्र एवं अग्नि के समान तेजस्वी हैं; जिसके वज्र-प्रहार के सुपर्वा श्रीमान् नन्दवंश रूप पर्वत समूल नष्ट हो गया; जो पराक्रम में साक्षात् कार्तिकेय के समान हैं; जिसने अकेले ही मंत्रशक्ति के प्रभाव से चन्द्रगुप्त को साम्राज्य दिया; जिसने महासमुद्ररूप अर्थशास्त्र से अमृत-रूप नीतिशास्त्र निकाला उस असीम गुण सम्पन्न विष्णुगुप्त के निमित्त नमस्कार है।'

कौटिल्य का ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' वस्तुतः राजनय से सम्बन्धित ग्रंथ है। कौटिल्य ने मनुष्यों की जीविका को अर्थ, मनुष्यों द्वारा युक्त भूमि के अर्थ माना है। अतः उनके मतानुसार जो शास्त्र

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

इस भूमि की प्राप्ति व इसकी रक्षा के उपायों का प्रणयन करे वह अर्थशास्त्र है।[4]

कौटिल्य सामाजिक अनुबन्ध से राज्योत्पत्ति को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि प्राचीन युग अराजकता का युग था। इस समय मात्स्यन्याय का प्राबल्य था। इससे मुक्ति पाने के लिए लोगों ने विवस्वान्सुत मनु को अपना राजा बनाया। साथ ही राजा को अन्न की उपज का छठा भाग, व्यापार द्वारा प्राप्त धन से दसवां भाग तथा हिरण्य की आय का कुछ भाग देने का निश्चय किया। किन्तु यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि प्रजा-पालक राजा ही इस भाग का अधिकारी होगा।[5]

कौटिल्य के अनुसार राज्य सप्तप्रकृति युक्त है। राज्य की ये सात प्रकृतियां राज्य के सात अंग है – स्वामी अमात्य, जनपद (राष्ट्र), दुर्ग, कोष, दण्ड (सेना) तथा मित्र (सुहृद) आदि।[6] अर्थशास्त्र के ही एक अन्य स्थल पर कौटिल्य ने प्रकृतियों को राज्य के अवयव माना है।[7]

कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में यह निर्देश करते हैं कि राजा का प्रथम कर्त्तव्य प्रजा को प्रसन्न करना होना चाहिए। उनकी दृष्टि में राजा की अपेक्षा प्रजा पहले है। प्रजा की सुख-सुविधाओं और प्रजा के अभीष्टों के आगे राजा का अपना कोई सुख या अभीष्ट नहीं होना चाहिए। राजा तो मात्र प्रजा की सुख-सुविधाओं का व्यवस्थापक होता है। इस संदर्भ में कौटिल्य गुरूजनों व अमात्यवर्ग को निर्देश देते हैं कि उन्हीं को राजा की मर्यादा निर्धारित करनी चाहिए। राजा कोई अनर्थ न करे, इस बात का भी वे ध्यान रखें।[8] राजा को सदाचार की साक्षात्मूर्ति होना चाहिए। राजा के चारित्रिक गुणों के सम्बन्ध में कौटिल्य ने कुछ सीमाएं निर्धारित की हैं। उच्च कुल में उत्पन्न, देवताओं के समान बुद्धि रखने वाला, धैर्यसम्पन्न, दूरदर्शी, धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, कृतज्ञ उच्चाभिलाषी, उत्साही, शीघ्रकार्य करने वाला, सामन्तों को वश में रखने वाला तथा दृढ़बुद्धि आदि राजा की विशेषताएं होनी चाहिए।[9] कौटिल्य ने राजा के गुणों को अभिगामिक प्रज्ञा व उत्साह श्रेणियों के अन्तर्गत रखा है। साथ ही इन्हें वे आत्मसम्पद् अथवा सवामिसम्पद् नाम से सम्बोधित करते हैं।[10]

राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कौटिल्य का कथन है कि यद्यपि ज्येष्ठ पुत्र ही राजपद का अधिकारी होना चाहिए किन्तु यह तभी सम्भव है जब वह राजा के योग्य गुणों से युक्त हो। अन्यथा उसे राजपद से अलग मानना चाहिए।[11] कौटिल्य ने ही अर्थशास्त्र के एक स्थल पर स्वीकार किया है कि राजा के मर जाने के बाद राज-परिवार के उत्तम गुणों से युक्त अभिषिक्त राजकुमार को ही राजपद प्रदान किया जाना चाहिए।[12] इसके अभाव में वे राजकन्या अथवा राजमहिषी को भी राजपद का अधिकारी मानते है।[13] कौटिल्य के मतानुसार राज्य का शासन राजवंश के संरक्षण में ही सुरक्षित रहता है। ऐसे राज्य को शत्रु प्रायः सरलता से जीत नहीं पाते हैं और बिना किसी बाधा के राजव्यवस्था सुचारू रूप से चलती है।[14] कौटिल्य राजा की जाति में उत्पन्न पुत्र को राजा की वास्तविक सन्तति मानते हैं। असमान जातीय को वे उत्तराधिकारी नहीं मानते है।[15] यह असमानजातीय पुत्र को मंत्रणा दे सकता है।

कौटिल्य का विचार है कि प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ तदविषयक मंत्र निर्णय के बाद होना चाहिए।[16] अमात्य गण का कार्य राजा को समय-समय पर सचेत करना होता है। साथ ही वे विपत्तियों से राजा की रक्षा भी करते हैं।[17] कौटिल्य ने मंत्रियों के लिए 'अमात्य' शब्द का ही

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रयोग किया है। केवल कुछ ही अमात्य विशिष्ट होते हैं जो मंत्रणा देने का अधिकार रखते हैं। कौटिल्य के अनुसार राजा को तीन अथवा चार मंत्रियों से ही मंत्रणा करनी चाहिए। चार से अधिक मंत्री नहीं और तीन से कम नहीं होने चाहिए, इससे मन्त्रगुप्ति सम्भव नहीं हो पाती है।[18] राजा को इस सम्बन्ध में समय, परिस्थिति व आवश्यकतानुसार मंत्रियों को रखना चाहिए।[19]

मंत्रिपरिषद की सदस्यता के लिए योग्यताएं भी निर्धारित की गयी है। अपने देश (राष्ट्र अथवा जनपद) में उत्पन्न, उच्चकुल वाला, ललितकलाओं का ज्ञाता, बुद्धिमान, तीक्ष्ण स्मरण शक्ति सम्पन्न, चतुर, बोलने में चतुराई रखने वाला, प्रगल्भ, तर्क-वितर्क करने वाला, प्रभावयुक्त, सहिष्णु, पवित्र, मित्र के गुणों से युक्त, स्वामीभक्त, समर्थ, स्वस्थ तथा धैर्यशाली, अभिमानरहित, स्थिर स्वभाव वाला, प्रियदर्शी, ईर्ष्या न रखने वाला अमात्य पद के योग्य है।[20]

मन्त्रिपरिषद् में एक अध्यक्ष होने का निर्देश कौटिल्य करते हैं किन्तु यह अध्यक्ष राजा नहीं होता था। यद्यपि मंत्रिपरिषद् की बैठकें अध्यक्ष की अध्यक्षता में सम्पन्न होती थीं किन्तु आवश्यकता आ पड़ने पर राजा मंत्रिपरिषद् को आहूत करता था।[21] इन बैठकों में निर्णय सम्भवत: बहुमत से होते थे। जिस विषय की पुष्टि बहुमत द्वारा हो जाए उसी निर्णय को स्वीकार करना चाहिए। मंत्रियों के वेतन के सम्बन्ध में कौटिल्य ने यह निर्धारित किया है कि वेतन इतना हो कि परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कर्मचारी व उसके परिवार का भरण-पोषण सरलता से हो सके।[22] यदि कर्मचारी का वेतन न्यून होगा तो वह राजा व राज्य की हानि कर सकता है।

अर्थशास्त्र से चर-व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है। राजनय में गुप्तचरों का प्रमुख स्थान होता है। प्रजा के कष्टों, दु:खों तथा अपराधों का पता लगाने हेतु ही सम्भवत: गुप्तचर-व्यवस्था प्रकाश में आयी। कौटिल्य ने कार्य के अनुसार ही गुप्तचरों के 9 विभाग किए हैं– 1. कापटिक, 2. उदास्थित, 3. गृहपतिक, 4. वैदेहक, 5. तापस, 6. सत्री, 7. तीक्ष्ण, 8. रसद और भिक्षुकी। प्रत्येक श्रेणी के चर के दो वर्ग कौटिल्य ने किए हैं – ब्राह्मचर तथा आभ्यन्तरचर।[23]

कौटिल्य ने यह निर्देश दिया है कि एक चरसंस्था के चर के द्वारा प्रस्तुत समाचार को दूसरी चरसंस्था से गुप्त रखना चाहिए।[24] समाचार गुप्ति रखने के लिए चरों को सांकेतिक गुप्त लिपि का प्रयोग करना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार संस्थाओं (कापटिक आदि गुप्तचरों) के विद्यार्थी अपनी विशिष्ट संकेत लिपि द्वारा उस सूचना को राजा तक पहुँचाएं।[25]

कौटिल्य का विचार है कि एक चर द्वारा लाया गया समाचार विश्वसनीय नहीं होता है। उसकी पुष्टि कम-से-कम तीन अन्य चरों द्वारा लाए गए समाचार से होनी चाहिए।[26] कौटिल्य यह भी निर्धारित करते हैं कि पुन: पुन: मिथ्या समाचार लाने वाले चर को गुप्त रूप से दण्ड देना चाहिए।[27]

विवादग्रस्त विषयों के निर्णय के लिए कौटिल्य ने विविध प्रकार के न्यायालयों की व्यवस्था दी है। कौटिल्य के अनुसार दो राज्यों या गाँवों की सीमा (जनपदसंधि) पर, दस गाँवों के केन्द्र (संग्रहण) में, चार सौ गाँवों के केन्द्र (द्रोणमुख) में और आठ सौ गाँवों के केन्द्र (स्थानीय) में न्यायालय हों। इनमें तीन धर्मस्थ व तीन अमात्य निर्णय करने के लिए होने चाहिए।[28]

अपराधी व्यक्ति के अपराध पर दण्ड किस प्रकार दिया जाए, इस सम्बन्ध में भी कौटिल्य ने विचार व्यक्त किए हैं। उनके अनुसार यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अपराध किस श्रेणी

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

का है व किस सीमा तक किया गया है, अपराधी की सामर्थ्य क्या है, उसका वर्ण तथा क्या उसमें सुधार सम्भव है। कौटिल्य ने दण्ड को तीन मुख्य श्रेणियों में रखा है – अर्थदण्ड, कायदण्ड तथा कार्यदण्ड (बन्धनागरदण्ड)[29]

राज्य-व्यवस्था के सुचारू रूप से संचालन के लिए कौटिल्य ने कोष की आवश्यकता व उपयोगिता को सर्वोपरि माना है। उन्होंने कोष संचय के लिए समाहर्त्ता के कार्य[30] के लिए कहा है कि वह दुर्ग, राष्ट्र खनि, सेतु, वन, ब्रज, व्यापारपथों का निरीक्षण करे। दुर्ग के अन्तर्गत शुल्क, दण्ड, पौतव, नागरिक, लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, तेल-घी आदि का विक्रेता, सुवर्णाध्यक्ष, दुकान, वेश्या, द्यूत, वास्तुकार, कारूशिल्पीगण, मन्दिरों के प्रमुख द्वारपाल आदि से लिया गया धन आता है। राष्ट्र के अन्तर्गत सीता (खेती), भाग, बलि, कर, व्यापार, नदी पार करना, नाव काकर, कस्बों की आय, विवीत, मार्गकर, रज्जू व चोर रज्जू से प्राप्त धन आता है, खनि के अन्तर्गत सोना, चाँदी, हीरा, मोती, मूँगा, शंख, लोहा, लवण, भूमि, आदि आते हैं। सेतु के अन्तर्गत पुष्पफल आदि हैं। वन के अन्तर्गत हिरण आदि पशु लकड़ी आदि द्रव्य व हाथी आते हैं। ब्रज में गाय, भैंस, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट, घोड़ा, खच्चर आदि पशु सम्मिलित हैं। वणिक्पथ में स्थलमार्ग व जलमार्ग हैं। ये सभी आय के साधन हैं।

कौटिल्य ने यह भी निर्देश दिया है कि राज्य का व्यय भी समुचित रूप से हो।[31] देवपूजा, पितृपूजा, दान, स्वस्तिवाचन, अन्तःपुर, शाही रसोई, दूत, कोष्ठागार, शस्त्रागार, पण्यगृह, कुप्यगृह का व्यय, विष्टि, पैदल, हाथी, घोड़ा तथा रथ पर व्यय, गाय, भैंस, बकरी आदि उपयोगी पशुओं पर किया गया व्यय, हरिण, पक्षी तथा अन्य हिंसक जानवरों की रक्षा के लिए किया गया व्यय, स्थान, लकड़ी, घास आदि के जंगलों की सुरक्षा के लिए राजकोष का व्यय होना चाहिए।

जनपद के संगठन के विषय में भी कौटिल्य ने अपना मत दिया है। जनपद के अन्तर्गत सबसे छोटी इकाई ग्राम होती है। गाँवों में मुखिया ही सर्वोपरि होता है अर्थशास्त्र में गाँव के मुखिया को अन्य ग्राम वृद्धों की सहायता से शासन करने का निर्देश किया गया है। दो या दो से अधिक गाँवों में सीमा विवाद होने पर उसका समाधान पंचग्रामी अथवा दशग्रामी अधिकारी कर दें।[32]

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में मण्डल सिद्धान्त[33] की भी चर्चा है। राज्यों का पारस्परिक सम्बन्ध जिस सिद्धान्त पर आधारित है वह मण्डल-सिद्धान्त है। कौटिल्य ने केन्द्र में विजिगीषु राजा की स्थिति स्वीकार की है। विजिगीषु राजा की विजय-यात्रा में आगे क्रमशः अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र, अरिमित्रमित्र तथा पीछे क्रमशः पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रन्दासार आते हैं। इसके अतिरिक्त दो अन्य मध्यम व उदासीन भी हैं। इस प्रकार यह 12 राजप्रकृतियां हैं।

षाड़गुण्य के सम्बन्ध में कौटिल्य कहते हैं कि सप्तप्रकृतियाँ व द्वादशराजमण्डल छः गुणों के आधार हैं।[34] षाड्गुण्य के अन्तर्गत सन्धि, विग्रह आसन, यान, संश्रय, द्वैधीभाव आते है।[35] राजा को इन छः गुणों का आश्रय लेकर क्षयावस्था को पार करके स्थान की और स्थानावस्था को पार करके वृद्धि की आकांक्षा करनी चाहिए।

कौटिल्य ने शक्ति अर्थात् बल के तीन भेद बताएं हैं – ज्ञानबल, कोषबल, विक्रमबल। ज्ञानबल, मंत्रशक्ति, कोष बल प्रभुशक्ति, विक्रमबल उत्साहशक्ति है।[36] कौटिल्य ने सेना के 6 प्रकार कहे हैं :[37] मौलबल (राजधानी की रक्षा करने वाली), भृतबल (वेतनभोगी सेना, श्रेणिबल (विभिन्न

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्रदेशों में रखी गयी सेना), मित्र बल (मित्र राजा की सेना), अमित्रबल (शत्रुराजा की सेना), अटवीबल (जंगल की सुरक्षा हेतु सेना)। साथ ही वे हस्तिसेना, अश्वसेना, रथसेना व पत्ति (पैदल) सेना का उल्लेख करते हैं।[38]

कौटिल्य ने दूत-व्यवस्था पर भी विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने दूतों के तीन प्रकार बताए हैं–निसृष्टार्थ, परिमितार्थ तथा शासन हर। अमात्य के गुणों को धारण करने वाला निसृष्टार्थ, एक चौथाई गुण हीन परिमितार्थ व आधा गुणहीन शासन हर होता है। दूत किसी भी स्थिति में वध्य नहीं होता है चाहे वह चाण्डाल ही क्यों न हो।[39]

संघ लाभ, सेना लाभ और मित्र लाभ इन तीनों में कौटिल्य संघ लाभ को उत्तम मानते हैं। संगठित संघ पर शत्रु का प्रभाव प्रतिकूल रहता है।[40]

2. मनु

परम्परया 'मनुस्मृति' को मनुप्रणीत माना जाता है। उन्हें आदि व्यवस्थापक के रूप में भी स्वीकार किया जाता है। अनुश्रुतियां उन्हें ब्रह्मा का मानस-पुत्र बताती हैं। धर्मशास्त्र से सम्बन्धित ज्ञान उन्हें ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था। वर्तमान समय में मनुस्मृति का जो स्वरूप है वह गुरू-शिष्य परम्परा के आधार पर सम्भव हुआ है। नारद स्मृति में वर्तमान स्वरूप की रचना का श्रेय सुमति भार्गव को दिया गया है। नारद स्मृति में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि मनु ने धर्मशास्त्र की रचना कर नारद को दिया, नारद ने संक्षिप्त कर मार्कण्डेय को दिया और मार्कण्डेय द्वारा संक्षिप्त किए जाने के बाद यह सुमति भार्गव के पास आया। सामान्य विद्वानों की यह धारणा है कि मनुस्मृति का वर्तमान स्वरूप द्वितीय शताब्दी ई॰ पू॰ में (लगभग) रचा गया।

'मनुस्मृति' में दो विशेष बातों की अभिव्यञ्जना की गयी है :

(i) वैदिक विचारों की रक्षा,

(ii) एक स्वस्थ समाज का निर्माण जिसमें व्यक्ति का उत्तरोत्तर विकास हो सके।

इसके साथ ही मनु ने राजनय से सम्बन्धित विचार भी प्रकट किए हैं। मनु ने राज्य की सप्ताङ्ग प्रकृतियों को स्वीकार करते हुए कहा है कि स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोष दण्ड तथा मित्र सात राजप्रकृतियों से युक्त राज्य सप्ताङ्ग राज्य कहलाता है।[41] राजा का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह आगे वाली प्रकृति की उपेक्षा करके पहले वाली प्रकृति की आपत्ति को दूर करे[42] अर्थात् सेना व मित्र दोनों के एक समय आपत्ति में फंस जाने पर वह पहले सेना की आपत्ति को दूर करे। जिस प्रकार तीन पैरों पर टिकी तिपाई के लिए तीनों पैरों का आश्रय आवश्यक है वैसे ही सप्ताङ्ग राज्यों में कोई भी एक दूसरे से बढ़कर कदापि नहीं है। राज्य के लिए वे सभी आवश्यक हैं।[43]

मनु ने राज्योत्पत्ति में दैवी सिद्धान्त को स्वीकार किया है। सम्भवतः आदि काल में राजा के न होने से बलशाली व्यक्तियों ने अहसाय निर्बलों पर आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया और इसके परिणामस्वरूप राजा का अस्तित्व सामने आया और ईश्वर ने राजा की सृष्टि की।[44] राजा की सृष्टि में ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा व कुबेर का अंश लिया था।[45] इस कारण से राजा में सभी जीवों को अभिभूत करने की क्षमता है।[46] यदि एक

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

बालक भी राजा के रूप में सामने हो तो उसका भी अपमान न करने का निषेध मनु ने किया है।[47]

समाज को स्वस्थ बनाए रखने के लिए स्वधर्म-पालन आवश्यक है। इस कारण से दण्ड की सृष्टि भी स्वाभाविक थी। दण्ड का सृजन ईश्वर द्वारा किया गया।[48] दण्ड से व्यवस्था रखना सम्भव हो जाता है। मनु ने सम्यक् दण्ड के प्रयोग पर विशेष बल दिया है। दण्ड का प्रयोग कराने में जिस व्यक्ति की सृष्टि हुई, उसे मनु 'राजा' बताते हैं। वस्तुत: राजा के अस्तित्व व उसके स्वरूप को जानने के लिए धर्म व दण्ड को जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। मनु राजा को स्वेच्छाचारी नहीं बताते हैं तथा यह भी कहते हैं कि उसके कार्य-व्यापार राजधर्म के अनुसार व्यवस्थित होते हैं।

राजा को स्वेच्छाचारी न होने देने का समय--समय पर शासन सम्बन्धी कार्यों में परामर्श देने के लिए मंत्रिपरिषद होती है। मनु 7-8 मंत्रियों की संख्या को उचित मानते है। मंत्रियों की योग्यता के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि वे वंशक्रमागत, शास्त्रज्ञ, शूरवीर, अचूक निशानेबाज, उत्तम कुल में उत्पन्न और परीक्षित हों।[49] राजा को उन मन्त्रियों से सन्धि-विग्रह (षड्गुण), स्थान, समुदय, गुप्ति और मिले हुए का उपयोग इनका चिन्तत अर्थात् विचार-विमर्श करना चाहिए।[50] राजा सभी मन्त्रियों के अभिप्राय को अलग-अलग जाने तथा फिर सभी को मिलाकर अपने हित के अनुसार कार्य करना चाहिए।[51] वे मंत्री जो शूरवीर हों, उत्साही हों, कुलीन तथा शुद्धचित्त हों उन्हें धन-धान्य के संग्रह में तथा भीरू सदस्य को महल में नियुक्त करना चाहिए।[52]

दूतों की नियुक्ति करने के सम्बन्ध में मनु का विचार है कि शास्त्रज्ञ, इंगित, आकार व चेष्टा को जानने वाला, शुद्ध हृदय, चतुर व कुलीन व्यक्ति को राजा दूत के रूप में नियुक्त करे। वस्तुत: वही दूत श्रेष्ठ होता है जो अनुरक्त, शुद्ध चतुर, स्मरणशक्तिवाला, देश व काल को जानने वाला तथा सुरूप, निर्भय व वाक्पटु हो।[53] सेनापति, राजा व दूत के कार्यों के सम्बन्ध में मनु का कहना है कि सेनापति के अधीन दण्ड, दण्ड के अधीन विनय-कार्य, राजा के अधीन कोष तथा राज्य और दूत के अधीन सन्धि और विग्रह होते हैं।[54] वस्तुत: दूत मेल कराने व मिले हुए से विग्रह कराने में सक्षम होता है।[55]

मनु ने न्याय-व्यवस्था के लिए 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग किया है। 'व्यवहार' के क्षेत्र में वे 18 विषयों को सम्मिलित करते हैं।[56] ऋण लेना, धरोहर रखना, किसी वस्तु या भूमि का स्वामी न होने पर उसे बेच देना, अनेक व्यक्तियों का मिलकर संयुक्त रूप से कार्य करना, दान आदि में दी गयी सम्पत्ति या किसी वस्तु को क्रोध, लोभ, या अपात्रता के कारण वापस ले लेना, नौकरों को वेतन या मजदूरों को मजदूरी न देना, पूर्व निर्णीत व्यवस्था को न मानना, क्रय-विक्रय में विवाद उपस्थिति होना, स्वामी तथा पालक में परस्पर विवाद होना, सीमा के विषय में विवाद होना, दण्ड पारुष्य, वाक्पारुष्य, चोरी करना, अतिसाहस करना, स्त्री का परपुरुष से सम्बन्ध, स्त्री-पुरुष-धर्म, पैतृक धन-सम्पत्ति या भूमि का बँटवारा करना, जुआ खेलना या द्रव्यादि रखकर पशु, पक्षी को लडाना ये 18 विषय-व्यवहार की स्थिति में बताए गए हैं।

मनु को दृष्टि में राज्य का सबसे बड़ा न्यायालय 'सभा' है; जहाँ वेदज्ञ तीन ब्राह्मणों के साथ राजा विवादग्रस्त विषयों के निर्णयों हेतु बैठता है। यदि राजा स्वयं विवाद-विषय का निर्णय

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

नहीं करता है तो उसे यह कार्य एक विद्वान ब्राह्मण को सौंपना चाहिए।[57]

मनु का विचार है कि या तो सभा में जाना नहीं चाहिए, अन्यथा सभा में सत्य-भाषण ही करना चाहिए।[58] जिस सभा में सभासदों के सामने धर्म अधर्म द्वारा तथा सत्य असत्य द्वारा पराजित होता है, उस सभा में वे सदस्य पाप से नष्ट हो जाते हैं।[59] व्यवहार (विवादग्रस्त विषय) को ठीक से न देखने पर अधर्म का प्रथम चतुर्थांश अधर्म करने वाले को, द्वितीय चतुर्थांश साक्षी को, तृतीय चतुर्थांश सभासदों को तथा चतुर्थ चतुर्थांश राजा को मिलता है।[60]

सभा (न्यायालय) की कार्य-प्रणाली पर भी मनु ने अपने विचार प्रकट किए हैं। राजा अथवा उसके द्वारा नियुक्त ब्राह्मण को धर्मासन पर बैठकर, एकाग्रचित्त होकर तथा लोकपालों को प्रणाम कर सभा की कार्यवाही आरम्भ करनी चाहिए।[61] जो व्यक्ति विवादग्रस्त विषय को प्रार्थी के रूप में निर्णय हेतु सभा में प्रस्तुत करता था उसे 'अर्थी' तथा जिसके विरुद्ध वह विवादग्रस्त विषय होता था, उसे प्रत्यर्थी कहा गया है।[62] विवादग्रस्त विषयों के निर्णय में मनु ने लेख, साक्ष्य व भोग के प्रमाण को स्वीकार किया है। इस विषय की विशद् जानकारी मनुस्मृति के आठवें अध्याय से मिलती है।

असत्य भाषण करने पर दण्ड का भी विधान मनु ने किया है। दण्ड का विधान अपराध के अनुसार होना चाहिए। बार-बार किए गए अपराध, देश, काल, अपराधी की शारीरिक शक्ति, आर्थिक शक्ति, अपराध के प्रकार पर विचार कर ही दोषी व्यक्ति को दण्डित किया जाना चाहिए।[63] धर्म विरुद्ध दिया गया दण्ड यश व कीर्ति का नाश करता है।[64] राजा का कर्त्तव्य है कि प्रथम बार अपराध करने पर वाग्दण्ड, उसके बाद धिग्दण्ड, तीसरी बार आर्थिक दण्ड और इसके बाद वधदण्ड से दण्डित करे।[65]

मनु ने समाज को चोरों से मुक्त करने के लिए गुप्तचर व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। सभा स्थान, प्याऊ, पुआ-पूड़ी आदि बेचने की दूकार, गल्ले की दूकान, चौरास्ता, मन्दिर, बड़े-बड़े वृक्षों की जड़, अनेक लोगों के एकत्रित होने का स्थान, प्रदर्शनी, पुराने उद्यान, जङ्गल, शिल्पियों के घर, सूने घर, वन, फुलवारी आदि ऐसे गुप्तस्थानों में घूमने-फिरने तथा एक स्थान में रहने वाले चोरों को रोकने के लिए राजा गुप्तचरों को नियुक्त करे।[66] ये गुप्तचर चारों को पकड़वाने में राजा की विशिष्ट सहायता करने वाले कहे गए हैं। चोर, उनके आश्रयदाताओं के लिए विभिन्न प्रकार के दण्ड मनु ने बताए हैं।[67]

मनु ने भी सप्तांग राज्य में कोष को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग बताया है। इसकी वृद्धि में राजा को सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। प्रजा से कर ग्रहण करने का अधिकार भी उसी राजा को है जो प्रजा की रक्षा करने में समर्थ हो।[68] वे किसी व्यापार या व्यवसाय की पूंजी पर नहीं अपितु उस व्यवसाय या व्यापार में होने वाले लाभ पर कर लगाने का परामर्श देते हैं। मनु कहते हैं कि कर ग्रहण करने में राजा को सावधानी रखनी चाहिए जिससे प्रजा क्लेशित न हो। प्रजा की सामर्थ्य से अधिक कर न लगाने का विधान भी मनु ने किया है।

मनु ने बाजारों के संघटन व संचालन पर भी विचार प्रकट किए हैं, राजा आयात-निर्यात की दूरी, स्थान, कितने दिनों तक रखे रहने से कितना लाभ होगा, कितना बढ़ेगा, कर्मचारियों या अन्य कुली आदि तथा कीड़े आदि के कारण कितना माल घटेगा इन सबका विचार कर बाजार

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

में बेचने योग्य सब सामानों को मूल्य निश्चित कर उनका क्रय-विक्रय कराए। राजा 5-5 तथा 15-15 दिनों के बाद मुख्य व्यापारियों के सामने मूल्य का निर्धारण करता रहे। तुलामान, प्रतीमान व तराजू को राजा अच्छी तरह जाँचकर परीक्षा करे तथा प्रति 6 मास पर उनकी जाँच कराता रहे।[69]

राष्ट्र के संघटन में मनु ग्राम को महत्वपूर्ण मानते हैं। उन्होंने विभिन्न प्रकार के ग्रामों के संघटन बताए हैं।[70] चोर आदि के उपद्रव को शान्त करने में असमर्थ एक गाँव का रक्षक दस गाँवों के रक्षक को, दस गाँवों का रक्षक बीस गाँवों के रक्षक को, बीस गाँवों का रक्षक सौ गाँवों के रक्षक को और सौ गाँवों का रक्षक हजार गाँवों के रक्षक को स्वयं उक्त चोर आदि के उपद्रवों को शीघ्र सूचित करे।[71] रक्षक के लिए मनु ने 'ग्रामिक' शब्द व्यवहृत किया है। दस गाँवों का रक्षक एक कुल, बीस गाँवों का रक्षक पाँच कुल, सौ गाँवों का रक्षक एक मध्यम ग्राम और हजार गाँवों का रक्षक एक मध्यम पुर अपनी जीविका के लिए राजा से प्राप्त करें।[72]

मनु ने छः प्रकार के दुर्ग बताए हैं – धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, गिरिदुर्ग[73] दुर्ग में निवास करने वाला राजा अजेय रहता है।[74]

मनु ने मण्डल-सिद्धान्त पर भी विचार प्रकट किए हैं। मध्यम, विजिगीषु, उदासीन व शत्रु मूल प्रकृतियां तथा आठ शाखा प्रकृतियां – मित्र, अरिमित्र, मित्र-मित्र, अरि-मित्र-मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रन्दासार हैं, इस प्रकार राजमण्डल की 12 प्रकृतियां हुईं।[75] राजमण्डल की कुल 72 प्रकृतियों के विषय में मनु का कहना है कि उपर्युक्त 12 प्रकृतियों में प्रत्येक की 5 द्रव्य प्रकृतियां अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, अर्थ व दण्ड मिलाकर 60 द्रव्य प्रकृतियां हुईं तथा इनमें 12 मूल प्रकृतियां जोड़ने से 72 प्रकृतियों का राजमण्डल बनता है।[76]

मनु ने षाड्गुण्य पर भी विचार प्रकट किए हैं।[77] ये छः गुण संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, संश्रय हैं। राजा को उचित प्रकार से इनका पालन करना चाहिए।

सप्तांग राज्य में सेना भी प्रमुख अंग है। राजा को शत्रु पर मार्गशीर्ष, फाल्गुन अथवा चैत्र माह में आक्रमण करना चाहिए। यद्यपि मनु ने राजा की सेना को छः प्रकार की (षड्विधिं) बताया है किन्तु ये प्रकार स्पष्टतः बताए नहीं गए हैं। सामान्यतः ये बल अश्वसेना, हस्तिसेना, नौ सेना, रथ सेना, पदाति हैं। मनु ने व्यूह-रचना, समतल भूमि में युद्ध के प्रकार, सैनिकों का उत्साहवर्धन न परीक्षण, परराष्ट्र पीड़न, तडागादि भेदन, शत्रु की प्रकृतियों का भेदन, सामादि उपायों से विजय प्रयत्न पर अपने विचार प्रकट किए हैं।[78]

मनु ने पराजित राजा के प्रति सज्जनता का व्यवहार किए जाने का विधान किया है। भविष्य में ऐसा राजा भी सहायक होता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनु के राजधर्म सम्बन्धी विचार सातवें एवं आठवें अध्यायों में विस्तृत रूप में वर्णित हैं। इनके अध्ययन से शक्ति सम्पन्न राजा द्वारा प्रजापालन एवं शत्रुओं से रक्षा का विस्तृत विधान ज्ञात होता है। प्रत्येक युग में श्रेष्ठ शासन की स्थापना हेतु मनुस्मृति का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पाद टिप्पणियां

1. 'येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमित्रदं कृतम्।।
– अर्थशास्त्र 15/1
2. विष्णुपुराण, 26-28, 24.4।
3. श्यामलाल पाण्डेय - 'भारतीय राजशास्त्र प्रणेता', पृ० 111।
4. अर्थशास्त्र 15/1।
5. इस सम्बन्ध में लेख की इसी पुस्तक के अध्याय में।
6. 'स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः
– अर्थशास्त्र 6/1
7. 'प्रकृत्यवयवानां तु व्यसनस्य विशेषतः।
बहुमावोऽनुरागो वा सारो वा कार्यसाधकः।।
– अर्थशास्त्र, 8/1।
8. अर्थशास्त्र - 1/6
9. वही, 6/1
10. वही, 6/1
11. वही, 1/16
12. वही, 5/6
13. वही, 5/16
14. अर्थशास्त्र 1/16
15. वही, 7/17
16. वही, 1/14
17. वही, 1/7
18. वही, 1/14
19. वही, 1/8
20. वही, 1/8
21. अर्थशास्त्र, 1/14
22. वही, 5/3
23. वही, 1/10-11
24. वही, 1/11
25. संस्थानामन्तेवासिनः संज्ञालिपिभिक्षारसञ्चारं कुर्युः।
– अर्थशास्त्र - 1/11
26. अर्थशास्त्र, 1/110
27. वही, 1/110
28. वही, 3/1
29. वही, 2/36
30. वही, 2/6
31. अर्थशास्त्र, 2/6
32. वही, 3/9
33. अर्थशास्त्र, 6/2
34. 'षाड्गुणस्थ प्रकृतिमण्डलं योनिः ।'
– अर्थशास्त्र - 7/1
35. वही।
36. वही, 6/2
37. वही, 2/33
38. वही, 9/2
39. अर्थशास्त्र, 1/15
40. वही, 11/1
41. स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ, सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्चते।।
-मनुस्मृति 9.294
42. वही, 9295
43. 'सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्यत्रिदण्डवत्।
अन्योन्यगुणवैशेष्यन्न किंचिदतिरिच्यते।।'
वही, 9.296
44. वही, 7.3
45. इन्द्रानिल यमार्कणामग्नेश्च वरूणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतोः।।
वही, 7.4
46. वही, 7.5
47. वही, 7.8
48. वही, 7.14
49. मौलाञ्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान्।
सचिवान्सप्तचाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्।।
वही, 7.54

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

50. वही, 7.56
51. वही, 7.57
52. वही, 7.62
53. वही, 7.63, 64
54. वही, 7.65
55. 'दूत एव हि संधत्ते भितत्त्येव च संहतान्।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवा:।।'
56. वहीं, 8.4-7
57. वहीं, 8.10-11
58. 'सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं का समञ्जुसम्।
अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्विषी।।
वहीं, 8.13
59. यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासद:।।
वहीं, 8.14
60. पादोऽधर्मस्य कर्तारं पाद: साक्षिणमृच्छति।
पाद: सभासद: सर्वान्पादो राजानमृच्छति।।
वहीं, 8.18
61. वहीं, 8.23
62. वही, 8.79
63. वहीं, 8.126
64. वहीं, 8.127
65. वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमत: परम्।।
वही, 8.129
66. वही, 9.264 - 266
67. वही, 9.271 - 293
68. वही, 9.254
69. वही, 8.401-403
70. वही, 7 - 114-115
71. वही, 7 - 116-117
72. वही, 7 - 119
73. वही, 7 - 72
74. वही, 7 - 73
75. वही, 7 - 156
76. वही, 7.157
77. वही, 7.160
78. वही, 7.187-199

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

आधारभूत ग्रन्थ

संस्कृत, प्राकृत व पालि

अग्नि पुराण
अथर्ववेद
अभिज्ञानशाकुन्तलम्
आचारांग सूत्र
आपस्तम्ब धर्मसूत्र
ऐतरेय ब्राह्मण
ऋग्वेद
कथासरित्सागर
काठक संहिता
कामन्दकीय नीतिसार
कौटिल्यीय अर्थशास्त्र
गौतम धर्मसूत्र
चुल्लवग्ग
छान्दोग्य उपनिषद्
जातक
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्तिरीय संहिता
दिव्यावदान
दीघनिकाय
नारद स्मृति
पंचतंत्र
पंचविंश ब्राह्मण
बौधायन धर्मसूत्र
बृहदारण्यक उपनिषद
बृहस्पति स्मृति
मत्स्य पुराण
मनु स्मृति
महाभारत
मार्कण्डेय पुराण
मालविकाग्निमित्रम्
मृच्छकटिकम्
यजुर्वेद
याज्ञवल्क्यस्मृति
रघुवंशम्
राजतरंगिणी
रामायण
वशिष्ठधर्मसूत्र
वाजसनेयीसंहिता
विष्णु धर्मसूत्र
शतपथ ब्राह्मण
शुक्रनीति

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

सहायक ग्रन्थ

अग्रवाल, वासुदेव शरण : भारत का विदेशों के साथ प्रणिधि सम्बन्ध, इतिहास दर्शन, सम्पादक – पृथ्वी कुमार अग्रवाल, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, 1978।

: हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, 1964।

अरोड़ा, नताशा : प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था, दिल्ली, 1990।

अल्तेकर, अनन्त सदाशिव : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, इलाहाबाद, 1959।

: राष्ट्रकूटाज़ एण्ड देअर टाइम्स पूना, 1967।

उपाध्याय, रामजी : प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, इलाहाबाद, 1966।

कपूर, शैलेन्द्रनाथ : श्रीलंका में हिन्दूधर्म, मेरठ 1985।

काणे, पाण्डुरंगवामन : धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द 1 व 2, (अर्जुन चौबे काश्यप द्वारा हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र का हिन्दी अनुवाद, लखनऊ, 1965।

गुप्त, परमेश्वरी लाल : प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग-1, वाराणसी, 1988।

गोयल, श्री राम : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, मेरठ, 1987।

: मागध-सातवाहन, कुषाण साम्राज्यों का युग, मेरठ, 1988।

: मौखिर-पुष्यभूति - चालुक्य युग, मेरठ, 1988।

घोषाल, यू॰ एन॰ : ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पॉलिटिकल थियरीज़, कलकत्ता, 1923।

जायसवाल, काशीप्रसाद : मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, कलकत्ता 1930।

: हिन्दू पॉलिटी, भाग-2 कलकत्ता, 1924।

: हिन्दू राजतन्त्र, भाग-2, काशी, वि॰ सं॰ 2022।

थपल्याल, किरण कुमार : इन्सक्रिप्शन्स ऑव द मौखरीज़, लेटर गुप्ताज़, पुष्प भूतीज़ एण्ड यशोवर्मन ऑव कन्नौज, दिल्ली 1985।

दीक्षितार, वी॰ आर॰ : गुप्ता पॉलिटी, मद्रास 1952।

: मौर्यन पॉलिटी, मद्रास 1932।

पार्जिटर, एफ॰ ई॰ : इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन, लन्दन 1922।

पाठक, विशुद्धानन्द : उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, लखनऊ, 1973।

पाण्डेय, श्यामलाल : भारतीय राजशास्त्र प्रणेता, लखनऊ 1989।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

पिल्लई, के॰ के॰ : साउथ इण्डिया एण्ड सीलोन, मद्रास 1963।

पुरी, बैजनाथ : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन, जिल्द - 1, बम्बई, 1968।

बेनी प्रसाद : थ्योरी ऑफ गवर्नमेण्ट इन एन्शिएण्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1927।

मजूमदार, रमेशचन्द्र : द वैदिक एज, बम्बई, 1965।

(सम्पादक) : द एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी, बम्बई, 1953।

: द क्लासिकल एज (शिवदान सिंह चौहान का हिन्दी अनुवाद 'श्रेण्य युग'), दिल्ली, 1984।

: द एज व इम्पीरियल कन्नौज, बम्बई, 1964।

मजूमदार, रमेशचन्द्र व अल्तेकर, अनन्तसदाशिव (सम्पादक) : वाकाटक-गुप्त युग, दिल्ली 1960।

महालिङ्गम, टी॰ वी॰ : साउथ इण्डियन पालिटी, मद्रास 1967।

मिराशी, वासुदेव विष्णु : वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, (अजयमित्र शास्त्री द्वारा अनूदित), वाराणसी, 1964।

: सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास और अभिलेख, (व्यंकटेश विश्वनाथ द्रविड़ द्वारा अनूदित), लखनऊ, 1982।

मिश्र, शिवनन्दन : ऐन्शियन्ट इण्डियन रिपब्लिक्स, लखनऊ 1976।

मुखर्जी, राधा कुमुद : चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, नई दिल्ली 1990।

: हर्ष, लन्दन, 1926।

: हिन्दू सभ्यता (वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा 'हिन्दू सिविलाइजेशन' का अनुवाद) दिल्ली, 1958।

मैक्रिण्डल, जे॰ डब्ल्यू॰ : इण्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, वेस्टमिनस्टर, 1901।

याजदानी, जी॰ : दकन का प्राचीन इतिहास (मंगलनाथ सिंह, कृष्ण मोहन श्रीमाली द्वारा 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ द डेकन' का हिन्दी अनुवाद) नई दिल्ली, 1977।

राय, उदय नारायण : गुप्त सम्राट और उनका काल, इलाहाबाद, 1971।

ला, एन॰ एन॰ : आस्पेक्ट्स ऑव एन्शिएण्ट इण्डियन पॉलिटी, आक्सफोर्ड, 1921।

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

लेगे : एँ रेकॉर्ड ऑव बुद्धिस्ट किंग्डम्स, ऑक्सफोर्ड, 1886।

वॉटर्स, टी॰ : ऑन युवान-च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, दिल्ली 1961।

शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं (सुशील द्वारा 'आस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिकल आडियाज़ एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शिएण्ट इण्डिया' का हिन्दी अनुवाद), नई दिल्ली 1977।

शास्त्री, के॰ एन॰ नीलकण्ठ : चोलवंश, नई दिल्ली, 1979।

: नन्दमौर्ययुगीन भारत, (मंगलनाथ सिंह द्वारा अनूदित), दिल्ली 1969।

सरकार, दिनेशचन्द्र : सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, कलकत्ता 1965।

हाजरा, आर॰ सी॰ : स्टडीज़ इन द पौराणिक रिकॉर्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, ढाका, 1940।

हॉपकिन्स, ई॰ डब्ल्यू॰ : इण्डिया ओल्ड एण्ड न्यू।

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय प्रो॰ बी॰ एन॰ पुरी संग्रह लखनऊ
State Museum Library Lucknow 7147

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

Digitization by Hindu-Heritage-Foundation of America. HHFA(USA)

प्राचीन भारतीय राजतन्त्र

शैलेन्द्र नाथ कपूर

प्रस्तुत पुस्तक प्राचीन भारतीय राजशासन से सम्बन्धित तथ्यों का समुचित उद्घाटन प्रस्तुत पुस्तक का अभीष्ट है। इस पुस्तक के लेखन में विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा प्रशासनिक सेवाओं की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम का ध्यान रखा गया है। पुस्तक दस अध्यायों में विभक्त है। इसके अन्तर्गत राज्यशास्त्र जानने के साधन, राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त, कतिपय शासन संस्थाएं (सभा, समिति, विदथ, पौर-जानपद), राज्य की सप्त प्रकृतियां, मन्त्रिपरिषद, कर-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध, गण एवं संघ राज्यों का प्रशासन तथा कुछ प्रमुख राजवंशों की शासन पद्धतियों का अध्ययन समाहित है।

परिशिष्ट के रूप में राजा का देवत्व, उत्तर वैदिक साहित्य में राज्याभिषेक तथा प्राचीन भारत के दो प्रमुख राजनीतिक विचारक कौटिल्य और मनु के विचार प्रस्तुत किए गए हैं। पूर्व आचार्यों के मतों को यथास्थान उद्धृत किया गया है। इसमें विभिन्न विद्वानों की कृतियों के सन्दर्भों और साथ ही मूल ग्रन्थों से भी आवश्यक उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं।

डॉ शैलेन्द्र नाथ कपूर वर्तमान में लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग में रीडर के पद पर हैं। आपने इसी विश्वविद्यालय से एम.ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान से उत्तीर्ण की, एतदर्थ आपने पाँच स्वर्ण पदक प्राप्त किये। आपके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों में उनके अध्याय 'मागध साम्राज्यवाद की सफलता के कारण', 'अकबर के अन्तिम वर्ष व मूल्यांकन', 'किंग चन्द्र ऐण्ड द मेहरौली पिलर' प्रकाशित हैं। 'चम्पा के राष्ट्रीय देवता ईशानभद्रेश्वर', 'हर्ष के प्रारम्भिक जीवन में पैतृक संस्कारों की भूमिका', '18वीं-19वीं शताब्दी ई. में प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति को प्रकाशित करने वाले प्रेरक मनीषी, 'पंचाल के ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर' आदि उनके लेख स्तरीय शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं।

ISBN : 81-7328-050-9

विश्व प्रकाशन

(वाइली ईस्टर्न लिमिटेड)

नई दिल्ली • बंगलूर • बम्बई • कलकत्ता • गुवाहाटी • हैदराबाद • लखनऊ
मद्रास • पुणे • लन्दन।